

भक्तामर-स्तोत्र

(संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी)



प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

(संरक्षक : अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)



भक्तामर स्तोत्र

(संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी)



अर्थ-विवेचन

जम्बू कुमार जैन

आंग्ल रूपान्तरण

हिम्मतसिंह सरूपरिया



:: प्रकाशक ::

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

(संरक्षक : अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)

पुस्तक :

भक्तामर स्तोत्र

(संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी)

अर्थ-विवेचन :

जम्बू कुमार जैन

अंग्रेजी अनुवाद :

हिम्मतसिंह सरूपरिया

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. 182 के ऊपर,

बापू बाजार, जयपुर-302003

फोन : 0141-2575997

फैक्स : 0141-4068798

Email : sgpmandal@yahoo.in

संस्करण : 2016

मुद्रित प्रतियाँ : 1100

मूल्य : **10/-** (दस रुपये मात्र)

लेज़र टाईपसैटिंग :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर

अन्य प्राप्ति स्थल :

❑ श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ
घोड़ों का चौक, जोधपुर-342001
(राजस्थान)
फोन : 0291-2624891

❑ **Shri Navratan ji Bhansali**
C/o. Mahesh Electricals,
14/5, B.V.K. Ayangar Road,
BANGALURU-560053
(Karnataka)
Ph. : 080-22265957
Mob. : 09844158943

❑ श्री प्रकाशचन्दजी सालेचा
16/62, चौपासनी हाउसिंग बोर्ड,
जोधपुर-342001 (राजस्थान)
फोन : 9461026279

❑ श्रीमती विजयानन्दिनी जी मल्हारा
"रत्नसागर", कलेक्टर बंगला रोड़,
चर्च के सामने, 491-ए, प्लॉट नं. 4,
जलगाँव-425001 (महा.)
फोन : 0257-2223223

❑ श्री दिनेश जी जैन
1296, कटरा धुलिया, चाँदनी चौक,
दिल्ली-110006
फ़ोन : 011-23919370
मो. 09953723403

प्रकाशकीय

भक्ति में अनुपम शक्ति है। प्रभु के नाम में इतनी शक्ति है कि बड़े से बड़े कष्ट सहज ही दूर हो जाते हैं तथा हृदय से अशुभ विचार निकल शुभ विचार स्थान बनाते हैं। मन सहज उल्लास एवं आनन्द से भर उठता है। प्रभु का भावपूर्वक स्मरण ही भव सागर से तिराकर मोक्षरूपी लक्ष्मी को देने वाला है।

‘भक्तामर स्तोत्र’ नामक पुस्तक का यह संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इस स्तोत्र का जैन धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा सभी इसका पाठ पूर्ण मनोयोग व श्रद्धा भाव से करते हैं। यह स्तोत्र कल्याणकारी व महाप्रभावक है। यह आराध्य के विशाल गुणों तथा आराधक की भक्ति विवशता का स्पष्ट रूप प्रकट करता है।

भक्तामर स्तोत्र इस युग की एक कालजयी कृति है। आचार्य मानतुंग द्वारा विरचित यह भक्तामर स्तोत्र भक्ति की पराकाष्ठा के साथ भगवान के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण का परिचायक है। भगवान के आन्तरिक वैभव के गुणानुवाद करने के पश्चात् बाह्यवैभव अष्ट महाप्रातिहार्यों को उत्कृष्ट भावना से व्यक्त किया गया है। और स्तोत्र के माध्यम से आने वाली प्राकृतिक व शारीरिक विपदाओं का भी भय विनष्ट होता है, यह भी बताया गया है।

मण्डल का सदैव यह प्रयास रहा है कि अच्छा से अच्छा साहित्य पाठकों को प्राप्त हो ताकि वे उससे लाभान्वित हो सकें तथा उसका चिन्तन मनन एवं स्वाध्याय कर आत्मोन्मुखी बन सकें। इस क्रम में यह पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस पुस्तक में अन्वयार्थ, अर्थ एवं भावार्थ भी दिया गया है ताकि स्तोत्र के भाव को पूर्ण रूप से समझा जा सके तथा इस पुस्तक में उक्त स्तोत्र का हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है। इस स्तोत्र का शब्दार्थ अँग्रेजी भाषा में भी प्रकाशित किया जा रहा है ताकि दक्षिण भारत या विदेशों में रहते हैं ऐसे पाठकों को भी इसका भाव पूर्णरूपेण समझ में आ सके। आंग्ल भाषा में रूपान्तरण श्रीमान् हिम्मतसिंह जी सरूपरिया (आर.ए.एस.) ने बहुत ही सुन्दर किया है। यह रूपान्तरण इस पुस्तक की उपयोगिता को और भी बढ़ाता है। एतदर्थ उनको मण्डल कार्यालय से बहुत-बहुत साधुवाद।

प्रस्तुत पुस्तक का अर्थ-विवेचन वरिष्ठ स्वाध्यायी श्री जम्बूकुमारजी जैन, जयपुर ने किया है तथा प्रूफ संशोधन में डॉ. धर्मचन्द जी जैन, जोधपुर तथा श्री जिनेन्द्र कुमार जी जैन, सवाईमाधोपुर व पुस्तक की सुन्दर डी.टी.पी. के लिए श्री प्रह्लाद नारायण जी लखेरा का सहयोग प्राप्त हुआ है, एतदर्थ हम इनके भी आभारी हैं।

आशा है सभी इस भक्तिरस से ओतप्रोत भक्तामर स्तोत्र का वाचन कर आत्मिक आनन्द को प्राप्त करेंगे।

:: निवेदक ::

पारसचन्द हीरावत

प्रमोदचन्द मोहनोत

विनयचन्द डागा

पदमचन्द कोठारी

अध्यक्ष

कार्याध्यक्ष

मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

भूमिका

आचार्य प्रवर हीराचन्द्रजी म.सा. की सदैव पावन प्रेरणा रहती है कि हम आध्यात्मिकता की ओर अपने कदम बढ़ायें। अज्ञान रूपी तिमिर का नाश कर ज्ञानरूपी प्रकाश से हृदय को आलोकित करें। साधक से साध्य, आराधक से आराध्य, भक्त से भगवान बनने की दिशा में सार्थक प्रयत्न करें। 'भक्तामर स्तोत्र' एक ऐसी ही अमर रचना है जो भक्त को भगवान बना देती है। गुरुदेव की पावन प्रेरणा एवं कृपा का ही प्रभाव है कि मण्डल आपके समक्ष भक्तामर स्तोत्र, (मूल) अन्वयार्थ, अर्थ एवं भावार्थ सहित प्रस्तुत कर पा रहा है।

परम आनन्द को प्राप्त करने के लिए मुमुक्षु साधकों के लिए अपने आराध्य देव की प्रार्थना या स्तुति का बहुत महत्त्व माना गया है। स्तुति करते समय आराधक अपने आपको आराध्य के प्रति पूर्णतः समर्पित कर जब आराधना करने लगता है तो उसे अपूर्व आनन्द की रसानुभूति होती है, एक ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है जिससे उसका अन्तर जगमगा उठता है, मन मुकुर निर्मल हो प्रभु के सम्मुख हो जाता है, हृदय की कालिमा ध्वस्त हो जाती है, समस्त संशय विनष्ट हो जाते हैं। सभी भौतिक एवं आध्यात्मिक वैभव उसके चरणों में स्वतः ही उपस्थित हो जाते हैं।

भावना का सदैव ही विशिष्ट महत्त्व रहा है। कहा भी है 'भावशून्याः क्रियाशून्याः' भाव के बिना की गयी सभी क्रियाएँ शून्य होती हैं, उनके करने से कोई फल प्राप्त नहीं होता है। 'भक्तामर स्तोत्र' भी एक भावपूर्ण कृति है। इसकी रचना संस्कृत भाषा में मधुर 'वसन्ततिलका' छन्द में 'मानतुंगाचार्य' ने की थी। इस कृति में

भक्तिरस की अविच्छिन्न धारा अस्खलित गति से प्रवाहित होती है। इसमें प्रयुक्त अद्भुत शब्द सौष्ठव, शब्दालंकार व अर्थालंकार का सुन्दर संयोग तथा एक-एक पद साहित्य सौन्दर्य से परिपूर्ण होने के कारण न केवल स्तुतिकर्ता बल्कि श्रोताओं को भी आनन्द प्रदान करता है।

इस स्तोत्र का नाम इसके प्रथम श्लोक के प्रथम पद 'भक्तामर' के नाम से लोक प्रसिद्ध है। इसे 'आदिनाथ स्तोत्र' भी कहा जाता है। इसके प्रथम श्लोक के 'युगादौ' शब्द तथा द्वितीय श्लोक में उल्लेखित 'प्रथमं जिनेन्द्रम्' से स्पष्ट होता है कि जो युग की आदि करने वाले हैं तथा प्रथम तीर्थंकर हैं उनकी मैं स्तुति करूँगा। इनके आधार पर ही इस स्तोत्र में भगवान ऋषभदेव की स्तुति मानी गयी है। स्पष्टतः भगवान ऋषभदेव के नाम का इसमें कहीं भी उल्लेख नहीं है।

हम 'युगादौ' तथा 'प्रथमं जिनेन्द्रं' के दूसरे अर्थों पर भी विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक तीर्थंकर युग की आदि करने वाले होते हैं तथा जिनेन्द्रों में जो प्रथम है अर्थात् तीर्थंकर देव ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है, इस तरह सभी तीर्थंकरों की स्तुति का इसमें समावेश हो जाता है। किन्तु यह अर्थ लोक प्रचलित नहीं है।

भक्तामर की रचना कब हुई? इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह तथ्य आज भी विवादास्पद है। इसकी रचना के पीछे एक 'किंवदन्ती' प्रचलित है जो इस प्रकार है-

वाराणसी नगरी में उस समय राजा हर्ष राज्य करते थे। उसके दरबार में दो कविरत्न मयूर भट्ट और बाण भट्ट विद्वान् एवं अद्भुत चमत्कारी थे। राजा की ऐसी मान्यता थी कि इन दो विद्वानों का मुकाबला अन्य कोई नहीं कर सकता। किन्तु इस धरा पर अनमोल रत्नों की कमी नहीं है। राजा ने मानतुंगाचार्य की अलौकिक प्रतिभा सम्पन्नता के बारे में सुना तो उन्हें सादर राजसभा में आमन्त्रित किया। दृढ़ सम्यक्त्वी मन्त्री के

आग्रह पर मानतुंगाचार्य राज्य सभा में उपस्थित हुए। राजा ने उनसे कोई चमत्कार दिखाने के लिए कहा। इस पर मानतुंगाचार्य ने कहा कि हम पंचमहाव्रतधारी साधु हैं तथा आत्मसाधना में ही विश्वास रखते हैं। सामान्यतः हम चमत्कार नहीं दिखाते हैं।

मानतुंगाचार्य ने जिनशासन प्रभावना की दृष्टि से मौन रहे। नृप को क्रोध आ गया और सेवकों को आदेश दिया कि आचार्य प्रवर को एड़ी से चोटी तक लोह शृंखलाओं में जकड़कर अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दिया जावे। कोठरी के द्वार पर प्रहरी बिठा दिये जायें जो दिनरात देखभाल करें। राजाज्ञा का अक्षरतः पालन कर सेवकों ने 48 लोह शृंखलाओं से उन्हें आपादकण्ठ जकड़ कर तथा दरवाजों पर ताले लगाकर अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दिया।

मानतुंगाचार्य अन्धेरी कालकोठरी में नितान्त नीरव व एकान्त स्थान पाकर भी बिना आक्रोश किये अपने आपको संयत कर, मन को पूर्णतः आराध्य देव के प्रति समर्पित कर प्रभु की स्तुति में तल्लीन हो गये। उनके मुखारविन्द से प्रभु-स्तुति में जो भाव प्रस्फुटित होने लगे वे एक-एक श्लोक का रूप धारण करते गये तथा एक-एक बन्धन टूटते गये जब अड़तालीसवें श्लोक की रचना हुई तो आचार्य प्रवर अन्तिम बन्धन से भी मुक्त, हो गये। काल कोठरी का अन्धेरा प्रकाश में परिवर्तित हो गया तथा आचार्य प्रवर सकुशल पुनः राजा के समक्ष उपस्थित हो गये। इस चमत्कार को देख राजा व प्रजाजन भी मानतुंगाचार्य से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा जैन धर्म के अनुयायी बन गये। जैन धर्म की प्रभावना का कैसा अद्भुत उदाहरण है। इस तरह भगवान आदिनाथ की स्तुति में जिन श्लोकों की रचना हुई, वही आज 'भक्तामर स्तोत्र' के रूप में विश्व में प्रचलित है।

भक्तामर स्तोत्र की रचना के समय ही अद्भुत चमत्कार हुआ तो इसमें कितनी शक्ति समाहित है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह स्तोत्र बड़ा चमत्कारी व महाप्रभावक है। इसमें

वर्णित भावों को हम देखें तो इसमें भगवान की पूर्ण वीतरागी व अन्य देवों से श्रेष्ठ होने की छवि सतार्किक प्रस्तुत की गयी है, साथ ही आपके अलौकिक देह सौन्दर्य का भी वर्णन है। आपकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती अतः आप अतुलनीय हैं। आपकी स्तुति करने से अनेक लाभ हैं इसको अनेक श्लोकों द्वारा सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार आपकी स्तुति से जीवों के पाप क्षय हो जाते हैं। अन्य श्लोकों में कहा गया है कि जैसे सूर्य की प्रभा से ही कमल खिलने लगते हैं, वैसे ही मात्र आपकी चर्चा ही जीवों के पापों का नाश कर देती है। आपके स्तवन में कितनी शक्ति है इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आपका स्तवन करने वाले पुरुष आपके समान ही बन जाते हैं। आपकी स्तुति करने वाला मदमस्त हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, जलोदर रोग और बन्धन आदि इन आठ कारणों से प्राप्त भय से भी मुक्त रहता है। आपके भक्त का ये आठों कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते हैं। अन्तिम श्लोक में फलश्रुति बताते हुए कहा है कि जो आपकी इस स्तोत्र रूपी माला को सदैव कण्ठ में धारण करता है अर्थात् सदैव इस स्तोत्र का पाठ करता है उस सम्माननीय पुरुष का राज्य, स्वर्ग, मोक्ष और सत्काव्य रूपी लक्ष्मी विवश होकर वरण करती है। अतः स्पष्ट है कि यह स्तोत्र सभी तरह से आनन्ददायक व सुखकारी है। सभी को अपने आराध्य देव के प्रति पूर्णतः समर्पित होकर इसका पाठ करना चाहिए।

भक्तामर स्तोत्र पर अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इस पुस्तक की विशेषता मात्र इतनी ही है कि अन्वयार्थ, अर्थ और भावार्थ देते हुए मूल श्लोक के भाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास कितना सफल हुआ है इसका मूल्यांकन तो प्रबुद्ध पाठक ही कर सकेंगे। अधिकाधिक संख्या में पाठक इस स्तोत्र के भाव को समझकर इसकी स्तुति में तल्लीन होंगे, तभी यह श्रम सार्थक हो सकेगा।

भक्तामर स्तोत्र

(1)

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पापतमो वितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥1॥

अन्वयार्थ :: भक्तामर = भक्तिमान् देवों के । प्रणत = झुके हुए । मौलि = मुकुटों की । मणि = मणियों की । प्रभाणाम् = प्रभा को । उद्योतकम् = प्रकाशित करने वाले । दलित-पापतमो वितानम् = पाप रूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाले । भवजले = संसार समुद्र में । पततां = गिरते हुए । जनानाम् = मनुष्यों को । युगादौ = युग की आदि में । आलम्बनम् = सहारा देने वाले । जिन = श्री जिनदेव के । पादयुगं = चरण युगलों को । सम्यक् = भलीभाँति । प्रणम्य = प्रणाम करके ॥1॥

अर्थ :: भक्तिमान् देवों के झुके हुए मुकुटों की मणियों को उद्भासित करने वाले, पाप रूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाले और संसार समुद्र में गिरते हुए मनुष्यों को युग की आदि में सहारा देने वाले श्री जिनेन्द्र के चरण युगलों को भलीभाँति प्रणाम करके ॥1॥

भावार्थ :: इसमें स्तुतिकार द्वारा आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए और भाव मंगल की प्राप्ति के लिए इष्ट देव को नमस्कार किया गया है ॥1॥

(2)

यः संस्तुतः सकलवाङ्मय-तत्त्व-बोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय-चित्त-हरै-रुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥2॥

अन्वयार्थ :: सकलवाङ्मय = सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी का । तत्त्वबोधात् = परमार्थ जानने से । उद्भूतबुद्धि = उत्पन्न हुई बुद्धि से । पटुभिः = प्रवीण बने । सुरलोकनाथैः = देवलोक के स्वामी इन्द्रों ने । जगत्त्रितय = तीन जगत के । चित्तहरैः = चित्त को हरण करने वाले । उदारैः = महान् । स्तोत्रैः = स्तोत्रों द्वारा । यः संस्तुतः = जिनकी स्तुति की है । तं प्रथमं = उन प्रथम । जिनेन्द्रम् = तीर्थकर भगवान का । किल = निश्चय से । अहमपि = मैं भी । स्तोष्ये = स्तवन करूँगा ॥2॥

अर्थ :: सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी के यथार्थ तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुई बुद्धि से निपुण बने हुए देवलोक के स्वामी इन्द्रों ने तीन लोक के चित्त को हरण करने वाले महान् स्तोत्रों के द्वारा जिनकी स्तुति की है, ऐसे उन प्रथम जिनेन्द्र ऋषभदेवजी की मैं भी स्तुति करूँगा ॥2॥

भावार्थ :: जिनकी स्तुति द्वादशांग रूप जिनवाणी के ज्ञाता स्वर्गाधिपति इन्द्रों द्वारा बड़े-बड़े विशाल स्तोत्रों द्वारा की गयी है, उन्हीं प्रथम जिनेन्द्र ऋषभदेवजी की मैं भी स्तुति प्रारम्भ करता हूँ ॥2॥

(3)

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित-पादपीठ
स्तोतुं समुद्यत-मतिर्विगत-त्रपोऽहं ।
बालं विहाय जलसंस्थित-मिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ? ॥३ ॥

अन्वयार्थ :: विबुधार्चितपादपीठ = देवों ने जिनके चरण पीठ की पूजा वन्दना की है। बुद्ध्या विना = बुद्धि के बिना। अपि = भी। विगतत्रपः = लज्जारहित होकर। अहम् = मैं। स्तोतुम् = आपकी स्तुति करने के लिए। समुद्यतमतिः = समुद्यतमति (तत्पर) हुआ हूँ। (यह सही है, क्योंकि)। बालं विहाय = बालक के सिवाय। अन्यः = अन्य। कः = कौन। जनः = मनुष्य (ऐसा है जो)। जलसंस्थितम् = जल में स्थित (दिखाई देने वाला)। इन्दुबिम्बम् = चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को। सहसा = एकाएक। ग्रहीतुम् = ग्रहण करने (पकड़ने) की। इच्छति = इच्छा करता है ॥३ ॥

अर्थ :: देवताओं से पूजित चरण वाले हे जिनेश्वर! बुद्धि के बिना ही मैं आपका स्तवन करने के लिए समुद्यत अर्थात् तैयार हुआ हूँ अतः मैं लज्जाहीन हूँ, क्योंकि बालक अर्थात् कर्तव्या-कर्तव्य के ज्ञान से शून्य अल्पज्ञ शिशु को छोड़कर ऐसा अन्य कौन मनुष्य है जो जल में दिखाई देने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को एकाएक पकड़ने की इच्छा करता है ॥३ ॥

भावार्थ :: जैसे अबोध बालक जल में पड़ी हुई चन्द्रमा की छाया को पकड़ना चाहता है, उसी प्रकार अल्पज्ञ होते हुए भी मैं आपकी स्तुति करने का साहस कर रहा हूँ ॥३ ॥

(4)

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र शशांक-कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-नक्र-चक्रं,
को वा तरीतु-मल-मम्बु-निधिं भुजाभ्याम्? ॥4 ॥

अन्वयार्थ :: गुण समुद्र = हे गुणों के सागर ! ते = तुम्हारे ।
शशांक-कांतान् = चन्द्रमा की कान्ति की तरह उज्ज्वल । गुणान् =
गुणों को । वक्तुम् = कहने के लिए । बुद्ध्या = बुद्धि से । सुरगुरुप्रतिमः
= देवताओं के गुरु (बृहस्पति) के समान । अपि = भी । कः = कौन
(मनुष्य ऐसा है जो) । क्षमः = समर्थ हो सकता है (क्योंकि) ।
कल्पान्त-काल = प्रलय काल की । पवनोद्धत = आँधी से उछलते
हुए । नक्र-चक्रम् = मगरों से युक्त । अम्बुनिधिम् = समुद्र को ।
भुजाभ्याम् = भुजाओं से । तरीतुम् = तैरने में । को वा = कौन मनुष्य ।
अलम् = समर्थ हो सकता है (कोई भी नहीं) ॥4 ॥

अर्थ :: हे गुणों के सागर ! तुम्हारे चन्द्रमा की कान्ति के
समान उज्ज्वल गुणों को कहने के लिए बुद्धि में बृहस्पति के समान
भी कौन मनुष्य ऐसा है जो समर्थ हो ? क्योंकि प्रलयकाल की आँधी
से उछलते हुए मगरमच्छ जिसमें हों ऐसे भयंकर समुद्र को भुजाओं से
तैरने में कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥4 ॥

भावार्थ :: जैसे प्रलयकाल के भयानक समुद्र को कोई
भुजाओं से पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी आपके उज्ज्वल
गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ ॥4 ॥

(5)

सोऽहं तथापि तव भक्ति-वशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्याऽत्म-वीर्य-मविचार्य मृगो मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ? ॥5 ॥

अन्वयार्थ :: मुनीश ! = हे मुनियों के ईश्वर । तथापि = तो भी । तव = आपकी । भक्तिवशात् = भक्ति के वश से । विगत-शक्तिः = शक्ति (सामर्थ्य) रहित । अपि = भी । सोऽहं = वह (शक्तिहीन) मैं । स्तवं = आपकी स्तुति । कर्तुं = करने को । प्रवृत्तः = प्रवृत्त हुआ हूँ (यह ठीक है, क्योंकि) । मृगः = हरिण । प्रीत्या = प्रीति के वश से । आत्मवीर्यम् = अपने पराक्रम को । अविचार्य = बिना विचारे ही । निजशिशोः = अपने बच्चे की । परिपालनार्थम् = रक्षार्थ । किं = क्या । मृगेन्द्रम् = सिंह को । न अभ्येति = (क्या) नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् उसके सम्मुख लड़ने के लिए खड़ा नहीं हो जाता है ? ॥5 ॥

अर्थ :: हे मुनीश्वर ! (मैं आपके अनन्त और अपरिमित गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ) तो भी आपकी भक्ति के वशीभूत होकर शक्ति रहित होने पर भी मैं बुद्धिहीन आपका स्तवन करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ (यह ठीक है क्योंकि) हरिण प्रीति के वश से अपने पराक्रम को बिना विचारे ही अपने बच्चे की रक्षार्थ क्या सिंह के सम्मुख सामना करने के लिए नहीं दौड़ता है ? ॥5 ॥

भावार्थ :: जैसे हरिण अपने बल का विचार न कर प्रीति वश अपने बच्चे को बचाने के लिए शेर के सम्मुख चला जाता है, उसी प्रकार यद्यपि मुझमें शक्ति नहीं है तो भी मैं भक्ति के वश से आपकी स्तुति करने के लिए तत्पर होता हूँ अर्थात् इस स्तुति में आपकी भक्ति ही कारण है मेरी शक्ति या प्रतिभा नहीं ॥5 ॥

(6)

अल्प-श्रुतं श्रुतवतां परिहास-धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरी-कुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्र-चारु-कलिका-निकरैक-हेतुः ॥6 ॥

अन्वयार्थ :: अल्पश्रुतं = शास्त्र ज्ञान की अल्पता वाले ।
श्रुतवतां = शास्त्रज्ञ पुरुषों के सामने । परिहासधाम = हँसी के पात्र,
(ऐसे) । माम् = मुझको । त्वद् भक्तिः = तुम्हारी भक्ति । एव = ही ।
बलात् = बलपूर्वक । मुखरी-कुरुते = वाचाल करती है (क्योंकि) ।
कोकिलः = कोयल । किल = निश्चय से । मधौ = बसन्त ऋतु में ।
यत् = जो । मधुरं = मधुर । विरौति = शब्द करती है । तच्चाम्र =
उसमें आम्रवृक्षों की । चारु-कलिका-निकरैक-हेतुः = सुन्दर मंजरियों
का समूह ही एक कारण है ॥6 ॥

अर्थ :: शास्त्रों के ज्ञाता पुरुषों के हँसी के पात्र मुझे अल्पज्ञ
को तुम्हारी भक्ति ही बलपूर्वक वाचाल करती है, क्योंकि कोयल
वास्तव में बसन्त ऋतु में जो मधुर शब्द करती है, उसमें सुन्दर
आम्रवृक्षों की कलियों का समूह ही एक कारण है ॥6 ॥

भावार्थ :: जैसे कोयल के बोलने में बसन्त ऋतु में आम्र
वृक्षों की सुन्दर कलियाँ ही निमित्त होती हैं, वैसे ही आपकी भक्ति
मुझे आपकी स्तुति करने में तत्पर कर रही है । अतः इस स्तुति में
आपकी भक्ति ही एक कारण है ॥6 ॥

(7)

त्वत्संस्तवेन भवसंतति - सन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीर भाजाम् ।
आक्रान्त-लोक-मलिनील-मशेष-माशु,
सूर्याशु-भिन्नमिव शार्वर-मन्धकारम् ॥7 ॥

अन्वयार्थ :: त्वत्संस्तवेन = तुम्हारी स्तुति करने से ।
शरीरभाजाम् = जीवधारियों का । भवसंतति = जन्म-मरण रूप परम्परा
से । सन्निबद्धं = बँधा हुआ । पापम् = पाप । क्षणात् = क्षण भर में ।
क्षयम् = नाश को । उपैति = प्राप्त हो जाता है । आक्रान्तलोकम् =
(जिसने) लोक को ढक लिया है (और जो) । अलिनीलम् = भ्रमर
के समान काला है, ऐसे । शार्वरम् = रात्रि का । अशेषम् = सम्पूर्ण ।
अन्धकारम् = अन्धकार । आशु = शीघ्रता से । सूर्याशुभिन्नमिव =
जैसे सूर्य की किरणों से नष्ट हो जाता है ॥7 ॥

अर्थ :: हे भगवन् ! आपके स्तवन से देहधारियों का भव
परंपरा से बँधा हुआ पाप ऐसे क्षणभर में नष्ट हो जाता है जैसे सम्पूर्ण
लोक पर छाया हुआ, भ्रमर के समान काला रात्रि का सम्पूर्ण अन्धकार
सूर्य की किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥7 ॥

भावार्थ :: जैसे रात्रि का सघन अन्धकार सूर्य की किरणों
से नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपकी स्तुति से जीवों के भवपरम्परा से
संचित पाप क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥7 ॥

(8)

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफल - द्युति - मुपैति ननूदबिन्दुः ॥४॥

अन्वयार्थ :: नाथ! = हे नाथ । इति मत्वा = इस प्रकार पाप को नष्ट करने वाला मानकर । तनुधिया = थोड़ी बुद्धिवाले । अपि = भी । मया = मेरे द्वारा । इदम् = यह । तव = तुम्हारा । संस्तवनम् = स्तोत्र । आरभ्यते = आरम्भ किया जाता है । तव = तुम्हारे । प्रभावात् = प्रभाव से । सताम् = सज्जन पुरुषों के । चेतः = चित्त को । हरिष्यति = हरण (आकर्षित) करेगा (जैसे) । नलिनीदलेषु = कमलिनी के पत्ते पर । उदबिन्दु = पानी का बिन्दु । ननु = निश्चय से । मुक्ताफल = मुक्ताफल (मोती) की । द्युतिम् = शोभा को । उपैति = प्राप्त होता है ॥४॥

अर्थ :: हे नाथ ! इस प्रकार आपके स्तवन को पाप का नाश करने वाला मानकर थोड़ी सी बुद्धि होने पर भी मेरे द्वारा यह आपका स्तोत्र प्रारम्भ किया जाता है, जो आपके प्रभाव से सज्जन पुरुषों के चित्त को हरण करेगा । जैसे कमलिनी के पत्तों पर पानी का बिन्दु निश्चय से मुक्ताफल की शोभा को प्राप्त होता है ॥४॥

भावार्थ :: जैसे कमलिनी के पत्तों पर रही हुई साधारण जल की बूँद भी मोती की शोभा को प्राप्त करती है, उसी प्रकार आपके प्रभाव से यह स्तोत्र भी सज्जन पुरुषों के चित्त को आकर्षित करेगा अर्थात् उत्कृष्ट काव्यों की श्रेणी में गिना जावेगा ॥४॥

(9)

आस्तां तव स्तवन-मस्त-समस्त-दोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्र-किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास-भाञ्जि ॥११॥

अन्वयार्थ :: सहस्र-किरणः = सूर्य । दूरे = दूर ही रहता है (तो भी) । प्रभा एव = उसकी प्रभा ही । पद्माकरेषु = सरोवरों में । जलजानि = कमलों को । विकासभाञ्जि = विकसित । कुरुते = कर देती है (उसी प्रकार हे जिनेन्द्र !) । अस्त = अस्त हो गये हैं । समस्त-दोषं = समस्त दोष जिसके (वैसा निर्दोष) । तव = तुम्हारा । स्तवनं = स्तुति, स्तोत्र अथवा प्रार्थना तो । दूरे आस्ताम् = दूर ही रहे । त्वत् = तुम्हारी । संकथा = चर्चा या तुम्हारी उत्तम कथा । अपि = ही । जगताम् = जगत के जीवों के । दुरितानि = पापों को । हन्ति = नाश कर देती है ॥११॥

अर्थ :: जैसे सूर्य के दूर रहने पर भी उसकी प्रभा ही सरोवरों में कमलों को विकसित कर देती है, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! समस्त दोषों से रहित आपकी यह स्तुति तो दूर रही, आपकी कथा ही जगत के जीवों के पापों को नष्ट कर देती है ॥११॥

भावार्थ :: जैसे सूर्योदय से पहले उसकी प्रभा से ही कमल खिलने लगते हैं तो पूर्ण सूर्योदय होने पर विकसित होंगे ही इसमें कोई सन्देह नहीं है, इसी प्रकार आपकी चर्चा मात्र से ही पाप नष्ट होने लगते हैं तो आपकी स्तुति से तो होंगे ही । अर्थात् यह स्तोत्र पापों का नाश करने वाला है ॥११॥

(10)

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण-भूतनाथ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्त-मभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥10 ॥

अन्वयार्थ :: भुवन-भूषण-भूतनाथ = हे जगत के भूषण रूप भगवन् । भुवि = संसार में । भूतैः गुणैः = समीचीन गुणों से । भवन्तम् = आपको । अभिष्टुवन्तः = स्तवन करने वाले पुरुष । भवतः = आपके ही । तुल्या = समान (सदृश) । भवन्ति = हो जाते हैं । अत्यद्भुतं न = अधिक आश्चर्य नहीं है । ननु = क्योंकि । नाथ = हे नाथ ! यः = जो । इह = इस लोक में । आश्रितम् = अपने आश्रित को । भूत्या = विभूति से । आत्मसमं = अपने समान । न करोति = नहीं करता है । तेन = उस स्वामी से । किं वा = क्या लाभ ? ॥10 ॥

अर्थ :: हे जगत के शिरोमणि, जीवों के स्वामी ! संसार में समीचीन गुणों से आपको स्तवन करने वाले पुरुष आपके ही समान हो जाते हैं, इसमें बहुत आश्चर्य क्या है ? क्योंकि जो स्वामी इस लोक में अपने आश्रित पुरुष को विभूति से अपने समान नहीं करता है उस स्वामी से क्या लाभ ? ॥10 ॥

भावार्थ :: हे नाथ ! जैसे उदार स्वामी का सेवक कालान्तर में धनादि की सहायता पाकर अपने स्वामी के समान हो जाता है वैसे ही आपके सेवक भी आपके समान हो जाते हैं ॥10 ॥

(11)

दृष्ट्वा भवन्त - मनिमेष विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकर-द्युति-दुग्ध-सिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे-रसितुं क इच्छेत् ? ॥11 ॥

अन्वयार्थ :: अनिमेष = निर्निमेष (बिना पलक झुकाये) । विलोकनीयं = देखने योग्य । भवन्तम् = आपको । दृष्ट्वा = देख करके । जनस्य = मनुष्यों के । चक्षुः = नेत्र । अन्यत्र = दूसरों में (अन्य देवों में) । तोषम् = सन्तोष को । न उपयाति = नहीं प्राप्त होते हैं । शशिकर-द्युति = चन्द्रमा की किरणों के समान । दुग्धसिन्धोः = उज्ज्वल क्षीर समुद्र के । पयः = जल को । पीत्वा = पीकर । कः = ऐसा कौन पुरुष है जो । जलनिधेः = समुद्र के । क्षारं जलम् = खारे पानी को । असितुम् = पीने की । इच्छेत् = इच्छा करता है ॥11 ॥

अर्थ :: अनिमेष नेत्रों से सदा देखने योग्य आपको देखकर के मनुष्य के ये नेत्र अन्य देवों में सन्तोष को प्राप्त नहीं होते हैं । (यह ठीक है) क्योंकि चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल शोभा वाले क्षीर समुद्र के जल को पीकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो समुद्र के खारे पानी को पीने की इच्छा रखता हो ? ॥11 ॥

भावार्थ :: जैसे क्षीर समुद्र का मधुर जल पी लेने पर फिर खारा पानी पीना कोई पसन्द नहीं करता वैसे ही जो एक बार आपका दर्शन कर लेता है उसको अन्य देवों के दर्शन से सन्तोष प्राप्त नहीं होता ॥11 ॥

(12)

यैः शान्तराग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रि-भुवनैक-ललाम-भूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्,
यत्ते समान-मपरं न हि रूप-मस्ति ॥12 ॥

अन्वयार्थ :: त्रिभुवनैक-ललाम-भूत = हे त्रिभुवन के एक मात्र शृंगार (शिरोभूषण) । यैः = जिन । शान्तराग = शान्त भावों की । रुचिभिः = कान्ति वाले । परमाणुभिः = परमाणुओं से । त्वम् = तुम । निर्मापितः = निर्मित किये गये हो । खलु = निश्चय ही । ते = वे । अणवः = परमाणु । अपि = भी । तौवन्त एव = उतने ही थे । यत् = क्योंकि । ते समानम् = तुम्हारे समान । पृथिव्यां = पृथ्वी पर । अपरम् = दूसरा । रूपम् = रूप । नहि = नहीं । अस्ति = है ॥12 ॥

अर्थ :: हे त्रिभुवन के एक अलंकार रूप ! जिन शान्त भाव तथा सुन्दर परमाणुओं से आप बनाये गये हो वास्तव में वे परमाणु भी उतने ही थे, क्योंकि आपके समान रूप वाला इस पृथ्वी पर कोई दूसरा नहीं है ॥12 ॥

भावार्थ :: हे भगवन् ! आपका शरीर जिन परमाणु पुद्गलों से बना है वे इस पृथ्वी पर उतने ही थे । वे सारे परमाणु आपके शरीर में समा गये, शेष कुछ भी नहीं बचे । क्योंकि शेष होते तो आपके समान रूपवाला संसार में दूसरा भी होता, किन्तु ऐसा नहीं है ॥12 ॥

(13)

वक्त्रं क्व ते सुरनरोग-नेत्रहारि,
निश्शेष-निर्जित-जगत्त्रितयो-पमानम् ।
बिम्बं कलंक - मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाश-कल्पम् ॥13 ॥

अन्वयार्थ :: सुरनरोग-नेत्रहारि = देव, मनुष्य और नागों के नेत्रों को हरण करने वाला । निश्शेष-निर्जितजगत्त्रितयोपमानम् = तीनों लोकों में सम्पूर्ण उपमान को जीतने वाला । क्व = कहाँ तो । ते = तुम्हारा । वक्त्रम् = मुख और । क्व = कहाँ । निशाकरस्य = चन्द्रमा का । कलंकमलिनम् = कलंक से मलिन रहने वाला । बिम्बम् = मण्डल । यत् = जो कि । वासरे = दिन में । पाण्डुपलाश-कल्पम् = पीले पलाश (ढाक के पत्ते) के समान पीला (फीका) । भवति = हो जाता है ॥13 ॥

अर्थ :: देव, मनुष्य और नागों के नेत्रों का हरण करने वाला तथा जिसने तीनों लोकों की उपमाएँ जीत ली हैं ऐसा कहाँ आपका मुख और कहाँ चन्द्रमा का कलंक से मलिन रहने वाला मुख मण्डल जो कि दिन में पलाश के पत्रवत् पीला हो जाता है ॥13 ॥

भावार्थ :: आपके तेजस्वी मुख मण्डल को चन्द्रमा से उपमित नहीं किया जा सकता क्योंकि चन्द्रमा में कई धब्बे हैं तथा वह दिन में ढाक के पीले पत्तों की तरह पीला (फीका) और प्रभावहीन हो जाता है । आपके मुखमण्डल के सामने संसार के सब पदार्थ निस्तेज हैं ॥13 ॥

(14)

सम्पूर्ण-मण्डल-शशांक-कला-कलाप-
शुभ्रा-गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेकम्,
कस्तात्रिवारयति संचरतो यथेष्टम् ? ॥14 ॥

अन्वयार्थ :: त्रिजगदीश्वर = हे तीनों लोकों के ईश्वर । तव = तुम्हारे । सम्पूर्ण-मण्डल-शशांक-कला-कलाप-शुभ्रागुणाः = पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल की कलाओं सरीखे उज्ज्वल गुण । त्रिभुवनम् = तीन भुवन को । लंघयन्ति = उल्लंघन करते हैं । ये = जो । एकं = एक । नाथम् = नाथ के । संश्रिता = आश्रय में रहे हैं । तान् = उन्हें । यथेष्टम् = स्वेच्छानुसार । संचरतः = संचरण करने वाले को । कः = कौन पुरुष । निवारयति = निवारण कर सकता है । (रोक सकता है) ॥14 ॥

अर्थ :: हे त्रिलोक के ईश्वर ! पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल की कलाओं के समान उज्ज्वल आपके गुण तीनों लोकों में व्याप्त हैं । क्योंकि जो गुण एक स्वामी के आश्रय में रहे हुए हैं, उन्हें स्वेच्छानुसार सब जगह विचरण करने से कौन रोक सकता है ? ॥14 ॥

भावार्थ :: जिन उत्तम गुणों ने आपका आश्रय लिया है, उन्हें तीनों लोक में विचरण करने से कोई नहीं रोक सकता अर्थात् आपके गुण तीनों लोक में व्याप्त हैं ॥14 ॥

(15)

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभिर्-
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पांत-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ? ॥15 ॥

अन्वयार्थ :: यदि = यदि । त्रिदशांगनाभिः = देवांगनाओं से । ते = तुम्हारा । मनः = मन । मनाक् = किंचित् । अपि = भी । विकार-मार्गम् = विकारमार्ग को । न नीतम् = नहीं प्राप्त हुआ हो । अत्र = इसमें । किम् = क्या । चित्रम् = आश्चर्य है । किम् = क्या । कदाचित् = कभी । चलिताचलेन = कम्पित किये हैं पर्वत जिसने, ऐसे । कल्पान्तकालमरुता = प्रलयकाल के पवन से । मन्दराद्रि-शिखरम् = सुमेरु पर्वत का शिखर । चलितम् = चलायमान हो सकता है ? ॥15 ॥

अर्थ :: यदि देवांगनाओं द्वारा आपका चित्त किंचित् भी विकारग्रस्त नहीं हुआ तो इसमें क्या आश्चर्य है ? क्या कभी पर्वतों को कम्पायमान करने वाले प्रलयकाल के पवन से सुमेरु पर्वत का शिखर चलायमान हो सकता है ? ॥15 ॥

भावार्थ :: प्रलयकाल की हवा से सब पर्वत चलायमान हो जाते हैं, किन्तु सुमेरु पर्वत किंचित् भी चलायमान नहीं होता । ऐसे ही देवांगनाएँ ब्रह्मादि देवों के चित्त को चलायमान कर देती हैं, किन्तु आपके चित्त को डोलायमान करने में वे किंचित् भी समर्थ नहीं हैं ॥15 ॥

(16)

निर्धूमवर्ति - रपवर्जित - तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥16 ॥

अन्वयार्थ :: नाथ = हे नाथ ! त्वम् = तुम । निर्धूमवर्तिः
= धूम्र तथा बत्ती रहित । अपवर्जित-तैलपूरः = तेल के पूर रहित ।
चलिताचलानाम् = पर्वतों को चलायमान करने वाले । मरुताम् = पवन
के लिए । जातु न गम्यः = कभी गम्य नहीं हैं, ऐसे । जगत्प्रकाशः =
जगत को प्रकाशित करने वाले । अपरः = विलक्षण । दीपः = दीपक ।
असि = हो (क्योंकि आप) । इदम् = इस । कृत्स्नम् = समस्त ।
जगत्त्रयम् = तीनों लोकों को । प्रकटीकरोषि = प्रकाशित करते हैं,
जानते हैं ॥16 ॥

अर्थ :: हे नाथ ! आप धूम्र तथा बत्ती से रहित, तेल के
पूर (प्रवाह) रहित और जगत को प्रकाशित करने वाले ऐसे अद्वितीय
दीपक हो, जो पर्वतों को चलायमान करने वाले पवन को कदाचित्
भी गम्य नहीं है । क्योंकि आप इस समस्त त्रिलोक को प्रकट (प्रकाशित)
करते हो, अर्थात् जानते हो ॥16 ॥

भावार्थ :: सांसारिक दीपक में धुआँ, बत्ती व तेल होता है
तथा पवन उसे बुझा भी सकती है तथा वह एक ही स्थान पर प्रकाश
कर सकता है, किन्तु हे नाथ ! आप तीनों लोक को प्रकाशित करने
वाले अद्वितीय दीपक हो ॥16 ॥

(17)

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भो-धरोदर-निरुद्ध-महा-प्रभावः,
सूर्यातिशायि-महिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥17 ॥

अन्वयार्थ :: मुनीन्द्र = हे मुनीन्द्र ! (जो) । न कदाचित् = न तो कभी । अस्तम् = अस्त को । उपयाति = प्राप्त होते हैं । न राहुगम्य = न राहु के द्वारा ग्रसे जाते हैं । न अम्भोधरोदरनिरुद्ध-महाप्रभावः = न बादलों के उदर से ही जिसका महाप्रभाव रुकता है (और जो) । सहसा = सहज ही । जगन्ति = तीनों जगत को । युगपत् = एक समय में । स्पष्टीकरोषि = प्रकाशित करते हैं (ऐसे आप) । लोके = लोक में । सूर्यातिशायि-महिमा असि = सूर्य की महिमा से भी अधिक महिमाशाली हैं ॥17 ॥

अर्थ :: हे मुनीन्द्र ! आप न तो कभी अस्त होते हो, न राहु द्वारा ग्रसे जाते हो और न बादलों के उदर से ही आपका महाप्रभाव रुकता है, आप एक समय में सहज ही तीनों लोकों को प्रकाशित करते हो तथा आप सूर्य की महिमा से भी अधिक महिमाशाली हो ॥17 ॥

भावार्थ :: इसमें सूर्य व भगवान की तुलना करते हुए बताया है कि सूर्य शाम को अस्त हो जाता है, उसे बादल ढक लेते हैं, राहु ग्रस लेता है, किन्तु आपका महातेज इन दोषों से रहित है तथा तीनों लोक को एक साथ प्रकाशित करने वाला है ॥17 ॥

(18)

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्ज-मनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगद-पूर्व-शशांक-बिम्बम् ॥18 ॥

अन्वयार्थ :: यत् = जो । नित्योदयम् = सदा उदय रूप रहता है । दलित-मोह-महान्धकारम् = मोह रूपी महाअन्धकार को नष्ट करता है । न राहुवदनस्य गम्यम् = न राहु के मुख में जाने वाला है । न वारिदानाम् = न बादलों के गम्य है । जगत् = जगत को । विद्योतयत् = प्रकाशित करता है ऐसा, हे भगवन् ! तव = तुम्हारा । अनल्पकान्ति = अतिशय कान्ति वाला । मुखाब्जम् = मुख कमल । अपूर्व-शशांक-बिम्बम् = विलक्षण चन्द्रमा के बिम्ब रूप । विभ्राजते = शोभित होता है ॥18 ॥

अर्थ :: जो सदा उदय रहता है, जो मोह रूपी महान्धकार को नष्ट करता है, जो न राहु के मुख-गम्य है और न बादलों से ढका जा सकता है तथा जो तीनों लोकों को प्रकाशित करता है ऐसा, हे भगवन् ! आपका मुख-कमल विलक्षण चन्द्रमा के बिम्ब रूप शोभायमान होता है ॥18 ॥

भावार्थ :: इसमें भगवान के मुखमण्डल को एक विलक्षण चन्द्रमा बताते हुए कहा है कि जो कमी लौकिक चन्द्रमा में है, वह आप में नहीं ॥18 ॥

(19)

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा ?
युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमस्सु नाथ !
निष्पन्नशालि-वनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरै-र्जलभार-नम्रैः ? ॥19 ॥

अन्वयार्थ :: नाथ = हे प्रभो ! युष्मन्मुखेन्दु = आपके मुख रूपी चन्द्रमा से । दलितेषु-तमः सु = अन्धकार के नष्ट हो जाने पर । शर्वरीषु = रात्रियों में । शशिना = चन्द्रमा से । वा = अथवा । अह्नि = दिन में । विवस्वता = सूर्य से । किम् = क्या ? जीवलोके = संसार में । निष्पन्नशालि-वनशालिनि = धान्य के खेतों के पक चुकने पर । जलभारनम्रैः = पानी के भार से झुके हुए । जलधरैः = बादलों का । कियत् = क्या । कार्यम् = कार्य रह जाता है ? ॥19 ॥

अर्थ :: हे प्रभो ! आपके मुखरूपी चन्द्रमा से अन्धकार नष्ट हो जाने पर रात्रियों में चन्द्रमा से अथवा दिन में सूर्य से क्या ? जीवलोक में धान्य के खेतों के पक चुकने पर पानी के भार से झुके हुए बादलों से क्या कार्य रह जाता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥19 ॥

भावार्थ :: जब धान्य पक जाता है तब वहाँ बादलों के बरसने का कोई लाभ नहीं है, उसी प्रकार जहाँ आपके मुख रूपी चन्द्रमा से अज्ञानान्धकार नष्ट हो चुका हो वहाँ रात्रि में चन्द्रमा की चाँदनी (शीतलता) तथा दिन में सूर्य के प्रकाश (ताप) से क्या प्रयोजन ? ॥19 ॥

(20)

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥20 ॥

अन्वयार्थ :: कृतावकाशं¹ = अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों को प्रकाशित करने वाला । ज्ञानम् = केवल ज्ञान । यथा = जैसा । त्वयि = आप में । विभाति = शोभायमान है । तथा = वैसा । हरिहरादिषु = हरिहर आदि । नायकेषु = नायकों में (देवों में) । नैवम् = कभी भी शोभा नहीं पाता है (क्योंकि) । यथा = जैसे । तेजः = प्रकाश । स्फुरन्मणिषु = चमकती हुई मणियों से । महत्त्वम् = गौरव को । याति = प्राप्त होता है । एवं तु = वैसा तो । किरणाकुले अपि = किरणों से चमकते हुए । काच-शकले = काँच के टुकड़े में शोभित नहीं होता ॥20 ॥

अर्थ :: अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान (केवलज्ञान) जैसा आप में शोभायमान है वैसा हरिहर आदि देवों में नहीं है, क्योंकि जैसा प्रकाश चमकती हुई मणियों में महत्त्व को प्राप्त होता है वैसा किरणों से चमकते हुए काँच के टुकड़ों में नहीं होता ॥20 ॥

भावार्थ :: इसमें मणि व काँच के प्रकाश की तुलना करते हुए मणियों के प्रकाश को श्रेष्ठ बताया गया है, उसी प्रकार भगवान में जो केवलज्ञान है वह विष्णु, महादेव आदि देवों में नहीं पाया जाता ॥20 ॥

1. अनन्तपर्यायादिके वस्तुनि कृतो विहितोऽवकाशः प्रकाशो येन तत् ।

(21)

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि ? ॥21 ॥

अन्वयार्थ :: नाथ = हे नाथ ! (मैं) । हरिहरादय दृष्टा = हरिहरादिक देवों को देखना । वरं मन्ये = अच्छा मानता हूँ । येषु दृष्टेषु = जिनके देखने पर । हृदयम् = हृदय । त्वयि एव = तुम में ही । तोषम् = सन्तोष को । एति = पाता है । भवता वीक्षितेन = आपके देखने से । किम् = क्या ? येन = जिसमें । भुवि = पृथ्वी में । अन्यः कश्चित् = अन्य कोई देव । भवान्तरे अपि = दूसरे जन्म में भी । मनः न हरति = मन हरण नहीं कर सकता ॥21 ॥

अर्थ :: हे नाथ ! मैं हरिहरादिक देवों को देख लेना अच्छा ही मानता हूँ जिनके देखने से हृदय, आप में ही सन्तोष को प्राप्त करता है और आपको देखने से क्या ? जिससे कि पृथ्वी में कोई अन्य देव दूसरे जन्म में भी मन हरण नहीं कर सकते हैं ॥21 ॥

भावार्थ :: हरि, हर आदि देवों का देखना अच्छा है क्योंकि जब हम उन्हें राग-द्वेषादि से भरे पाते हैं तो आपको वीतराग पाकर हृदय को आप में ही सन्तोष होता है, किन्तु आपको देख लेने पर अन्य किसी भी देव की ओर चित्त जाता ही नहीं है । निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि संसार में आपसे बढ़कर अन्य कोई देव नहीं है ॥21 ॥

(22)

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥22 ॥

अन्वयार्थ :: स्त्रीणां शतानि = सैकड़ों स्त्रियाँ (हे भगवन्) । शतशः = सैकड़ों । पुत्रान् = पुत्रों को । जनयन्ति = जन्म देती हैं (परन्तु) । अन्या = दूसरी कोई भी । जननी = माता । त्वदुपमम् = तुम्हारे जैसे । सुतम् = पुत्र को । न प्रसूता = जन्म नहीं दे पायी है (सो ठीक ही है क्योंकि) । सर्वा दिशः = सब दिशाएँ । भानि = नक्षत्रों को । दधति = धारण करती हैं (परन्तु) । स्फुरत् अंशुजालम् = देदीप्यमान किरण समूह वाले । सहस्ररश्मिम् = सूर्य को (एक) । प्राची दिक् एव जनयति = पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है ॥22 ॥

अर्थ :: सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं, परन्तु दूसरी कोई भी माता तुम्हारे जैसे पुत्र को जन्म नहीं दे सकती । यह ठीक है, क्योंकि सब दिशाएँ नक्षत्रों को धारण करती है, किन्तु देदीप्यमान किरणों के समूह वाले सूर्य को मात्र पूर्व दिशा ही उत्पन्न कर सकती है ॥22 ॥

भावार्थ :: जिस प्रकार पूर्व दिशा ही सूर्य को उत्पन्न कर सकती है अन्य दिशाएँ नहीं, उसी प्रकार एक मात्र आपकी माता ही आपको उत्पन्न कर सकती है अर्थात् आप जैसा पुत्र अन्य माताएँ उत्पन्न नहीं कर सकतीं ॥22 ॥

(23)

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्य-वर्ण-ममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥23 ॥

अन्वयार्थ :: मुनीन्द्र = हे मुनीन्द्र ! मुनयः = मुनिगण । त्वाम् = तुम्हें । परमं पुमांसम् = श्रेष्ठ पुरुष (और) । तमसः = अन्धकार के । पुरस्तात् = आगे । आदित्यवर्णम् = सूर्य के समान तेजोरूप । अमलम् = मल रहित (निर्मल) । आमनन्ति = मानते हैं तथा । त्वाम् एव = तुम्हें ही । सम्यक् = भली भाँति । उपलभ्य = पाकर । मृत्युम् = मृत्यु को । जयन्ति = जीतते हैं । (इसलिए तुम्हारे अतिरिक्त) । अन्यः = दूसरा कोई । शिवः = कल्याणकारी । शिवपदस्य = मोक्ष का । पन्थाः न = मार्ग नहीं है ॥23 ॥

अर्थ :: हे मुनीन्द्र ! मुनिजन आपको श्रेष्ठ पुरुष और अन्धकार के आगे सूर्य के समान तेजोरूप तथा निर्मल मानते हैं । वे मुनिगण आपको ही पाकर मृत्यु को जीतते हैं; इसलिए आपके अतिरिक्त दूसरा कोई कल्याणकारी मोक्ष का मार्ग नहीं है ॥23 ॥

भावार्थ :: आप राग-द्वेष के मल से रहित होने से निर्मल तथा मोहान्धकार को नष्ट करने से सूर्य के समान तेजोरूप हैं इसलिए मुनिगण आपको परमपुरुष मानते हैं । आपके प्राप्त होने से मृत्यु नहीं आती, इसलिए आपको ही मोक्ष का मार्ग मानते हैं ॥23 ॥

(24)

त्वामव्ययं विभु-मचिन्त्य-मसंख्य-माद्यं,
ब्रह्माणमीश्वर - मनंत - मनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदित-योग-मनेकमेकं,
ज्ञान-स्वरूप-ममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥24 ॥

अन्वयार्थ :: संतः = सन्त पुरुष । त्वाम् = तुमको । अव्ययम् = अक्षय । विभुम् = व्यापक । अचिन्त्यम् = चिन्तन में नहीं आने योग्य । असंख्यम् = असंख्य गुणों वाले । आद्यम् = आदि तीर्थकर । ब्रह्माणम् = ब्रह्मा । ईश्वरम् = सर्व देवों के ईश्वर । अनन्तम् = अन्त रहित । अनंगकेतुम् = कामदेव को नष्ट करने के लिए केतु रूप । योगीश्वरम् = योगियों के स्वामी । विदित-योगम् = योगों को जानने वाले । अनेकम् = अनेक (गुण और पर्यायों की अपेक्षा अनेक) । एकम् = एक अथवा अद्वितीय । ज्ञानस्वरूप = केवलज्ञानी । अमलम् = कर्म-मलरहित । प्रवदन्ति = कहते हैं ॥24 ॥

अर्थ :: सन्तपुरुष आपको अव्यय, व्यापक, चिन्तन में नहीं आने वाले, असंख्य गुणों वाले, आदि तीर्थकर, सकल कर्म रहित, सर्व देवों के ईश्वर, अनन्त, कामदेव को नष्ट करने में केतुस्वरूप, योगीश्वर, अनेकरूप तथा एक केवल ज्ञान स्वरूप और निर्मल कहते हैं ॥24 ॥

भावार्थ :: इसमें भगवान के अनेक गुणों को प्रदर्शित किया गया है । इसका एक-एक पद गम्भीर दार्शनिकता लिये हुए है । यह श्लोक गागर में सागर के समान है ॥24 ॥

(25)

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धि-बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात् ।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्ग विधे-विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥25 ॥

अन्वयार्थ :: विबुधार्चित = देवताओं (गणधरों) ने ।
बुद्धिबोधात् = आपके केवल ज्ञान रूप बोध की पूजा की है । त्वम्
एव = तुम ही । बुद्धः = बुद्ध हो । भुवनत्रय-शंकर-त्वात् = तीनों
लोकों के लिए 'शं' अर्थात् सुख एवं कल्याण करने वाले होने से ।
त्वम् = तुम (ही) । शंकरः असि = शंकर हो (और) । धीर ! = हे
धीर ! शिवमार्ग-विधेः = रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग की विधि का ।
विधानात् = विधान करने के कारण तुम्हीं । धाता असि = विधाता
हो । भगवन् = हे भगवन् ! त्वम् एव = तुम ही । व्यक्तम् = स्पष्ट रूप
से । पुरुषोत्तम = पुरुषोत्तम यानी नारायण । असि = हो ॥25 ॥

अर्थ :: गणधरों ने आपके केवल ज्ञान रूप बोध की पूजा
की है; इस कारण आप ही बुद्ध हो, त्रिभुवन के जीवों के लिए सुखकारी
व कल्याणकारी हो; इसलिए आप शंकर हो, और हे भगवन् ! मोक्षमार्ग
की रत्नत्रय रूप विधि का विधान करने से विधाता हो । इसी प्रकार हे
भगवन् ! आप ही प्रकट रूप में पुरुषों में श्रेष्ठ होने के कारण पुरुषोत्तम
अर्थात् नारायण हो ॥25 ॥

भावार्थ :: इसमें भगवान को बुद्ध, शंकर, विधाता तथा
नारायण बताया गया है । भगवान केवलज्ञानी होने से बुद्ध, कल्याणकारी
होने से शंकर, विधानकर्ता होने से विधाता तथा पुरुषों में उत्तम होने
से नारायण हैं ॥25 ॥

(26)

तुभ्यं नमस्त्रि - भुवनार्तिहराय नाथ !

तुभ्यं नमः क्षितितलामल - भूषणाय ।

तुभ्यं नमस्त्रि - जगतः परमेश्वराय,

तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधि - शोषणाय ॥26 ॥

अन्वयार्थ :: त्रिभुवनार्तिहराय = त्रिभुवन की पीड़ा को हरने वाले । नाथ = हे नाथ ! तुभ्यम् = तुमको । नमः = नमस्कार है (और) । क्षितितलामलभूषणाय = पृथ्वी तल के एकमात्र निर्मल भूषण । तुभ्यम् = तुमको । नमः = नमस्कार है । त्रिजगतः परमेश्वराय = त्रिजगत् के परमेश्वर । तुभ्यम् = तुमको । नमः = नमस्कार है । (और) । भवोदधिशोषणाय = संसार समुद्र को सोखने वाले । जिन = हे जिन ! तुभ्यम् = तुमको । नमः = नमस्कार है ॥26 ॥

अर्थ :: हे नाथ ! त्रिभुवन की पीड़ा हरण करने वाले आपको नमस्कार है, पृथ्वी तल के निर्मल भूषण आपको नमस्कार है, त्रिजगत् के परमेश्वर आपको नमस्कार है और हे जिन! संसार समुद्र को शोषित करने वाले आपको नमस्कार है ॥26 ॥

भावार्थ :: इसमें भगवान को त्रिभुवन की पीड़ा हरने वाला, पृथ्वी तल का निर्मल भूषण, जगत का परमेश्वर तथा संसार समुद्र को सुखाने वाला बताकर नमस्कार किया गया है ॥26 ॥

(27)

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्-
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त-विविधाश्रय - जात - गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिद्-पीक्षितोऽसि ॥27 ॥

अन्वयार्थ :: मुनीश = हे मुनियों के ईश्वर । यदि = यदि ।
अशेषैः = सम्पूर्ण । गुणैः = गुण । निरवकाशतया = बिना अवकाश
के (सघनता से) । त्वं संश्रितः = तुम में भरे हुए हैं । (एवं) ।
उपात्तविविधाश्रय-जात-गर्वैः = अनेक देव एवं मनुष्यों आदि में
आश्रय पाने से गर्विष्ठ, ऐसे । दोषैः = दोषों के द्वारा । स्वप्नान्तरेऽपि =
स्वप्न में भी (तुम) । कदाचिद् अपि = कभी भी । न ईक्षितः = नहीं
देखे गये हो तो । अत्र = इसमें । को नाम विस्मयः = कौनसा आश्चर्य
? कुछ नहीं ॥27 ॥

अर्थ :: हे मुनीश्वर ! यदि सम्पूर्ण गुणों ने सघनता से आपका
आश्रय ले लिया है एवं अनेक देव मनुजादिकों में आश्रय पाने से गर्विष्ठ
दोषों ने स्वप्नावस्था में भी कभी आपको नहीं देखा है तो इसमें आश्चर्य
क्या ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥27 ॥

भावार्थ :: संसार के समस्त गुण आपमें समाहित होने से
कुछ भी स्थान शेष नहीं रहा, दोषों ने यह सोचकर घमण्ड से आपकी
ओर नहीं देखा कि जब बहुत सारे देवों, मनुष्यों आदि ने हमें आश्रय
दे दिया है तो हमें एक जिनदेव की क्या परवाह । इस प्रकार भगवान
में गुण ही गुण हैं, दोषों के लिए स्वप्न में भी स्थान नहीं है ॥27 ॥

(28)

उच्चैरशोक-तरु-संश्रित-मुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमोवितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥28 ॥

अन्वयार्थ :: उच्चैः = ऊँचे । अशोक-तरु-संश्रितम् = अशोक वृक्ष के आश्रित । उन्मयूखम् = ऊपर की ओर निकलती किरणों वाला । भवतः = आपका । नितान्तम् = अत्यन्त । अमलम् = निर्मल । रूपम् = रूप । पयोधर-पार्श्ववर्ति = बादलों के पास रहे हुए । स्पष्टोल्लसत् किरणम् = व्यक्त रूप से चमकती किरणों वाले (तथा) । अस्ततमो-वितानम् = अन्धकार के समूह का निरसन करने वाले । रवेः = सूर्य के । बिम्बं इव = बिम्ब की तरह । आभाति = शोभित होता है ॥28 ॥

अर्थ :: ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रय में स्थित, ऊपर की ओर निकलती किरणों वाला आपका निर्मल रूप अत्यन्त शोभायमान है । जैसे स्पष्ट रूप से चमकती हुई किरणों वाला एवं अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला सूर्य-मण्डल सघन बादलों के पास शोभित होता है ॥28 ॥

भावार्थ :: इस श्लोक में अष्ट प्रातिहाय्यों में से प्रथम प्रातिहार्य 'अशोक वृक्ष' की शोभा का वर्णन है । बादलों के निकट जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब शोभा देता है, उसी प्रकार अशोक वृक्ष के नीचे आपका निर्मल शरीर शोभायमान होता है ॥28 ॥

(29)

सिंहासने मणिमयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्-विलस-दंशु-लता-वितानम्,
तुंगोदयाद्रि-शिरसीव सहस्ररश्मेः ॥29 ॥

अन्वयार्थ :: मणिमयूख-शिखा-विचित्रे = मणियों की किरण पंक्ति से चित्रित । सिंहासने = सिंहासन पर । तव = तुम्हारा । कनकावदातम् = सुवर्ण के समान शुभ्र । वपुः = शरीर । तुंगोदयाद्रि-शिरसि = ऊँचे उदयाचल के शिखर पर । वियद् विलसद् = आकाश में शोभित हो रहे । अंशु-लता = किरण रूपी लता मण्डप से । वितानम् = घिरे । सहस्ररश्मेः = सूर्य के । बिम्बं इव = प्रतिबिम्ब की तरह । विभ्राजते = अतिशय शोभित होता है ॥29 ॥

अर्थ :: मणियों की किरणों से चित्र विचित्र बने हुए सिंहासन पर आपका सुवर्ण के समान शुभ्र शरीर ऐसे शोभित हो रहा है जैसे ऊँचे उदयाचल के शिखर पर स्थित आकाश में किरण रूपी लता मण्डप से घिरा हुआ सूर्य सुशोभित होता है ॥29 ॥

भावार्थ :: इस श्लोक में 'स्फटिक सिंहासन' नामक दूसरे प्रातिहार्य का वर्णन है । उदयाचल पर्वत के शिखर पर जैसे सूर्य बिम्ब शोभा देता है वैसे ही मणि जडित सिंहासन पर आपका शरीर शोभायमान है ॥29 ॥

(30)

कुन्दावदात-चल-चामर-चारु-शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत-कान्तम् ।
उद्यच्छशांक-शुचिनिर्झर-वारि-धार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥30 ॥

अन्वयार्थ :: कुन्दावदात = कुन्द पुष्प के समान उज्ज्वल और । चल चामर = चलते हुए चँवरों की । चारु शोभम् = शोभा से युक्त । कलधौत = सोने सरीखी । कान्तम् = कान्तिवाला । तव वपुः = तुम्हारा शरीर । उद्यच्छशांक-शुचि = ऊपर उठते हुए चन्द्रमा के समान निर्मल । निर्झर-वारिधारम् = झरनों की जलधारा से युक्त । शात-कौम्भम् = स्वर्णमय । सुरगिरेः = सुमेरु पर्वत के । उच्चैः तटम् इव = ऊँचें तटों की तरह । विभ्राजते = शोभित होता है ॥30 ॥

अर्थ :: कुन्द पुष्प के समान उज्ज्वल और चलते हुए चँवरों की शोभा से मनोहर, सुवर्ण के समान कान्ति युक्त आपका शरीर उसी तरह सुशोभित हो रहा है जिस प्रकार उदित चन्द्रमा के समान निर्मल झरनों की जलधारा से युक्त स्वर्णमय सुमेरु पर्वत का ऊँचा तट शोभित होता है ॥30 ॥

भावार्थ :: इस श्लोक में 'चामर' नामक तीसरे प्रातिहार्य का वर्णन है । सुवर्णमय सुमेरु पर्वत के दोनों तटों पर मानों निर्मल जल वाले दो झरने झरते हो उस प्रकार भगवान के स्वर्णसदृश शरीर पर दो उज्ज्वल चामर दुर रहे हैं ॥30 ॥

(31)

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त- ,
मुच्चैः स्थितं स्थगित-भानुकर-प्रतापम् ।
मुक्ताफल-प्रकर-जाल-विवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥31 ॥

अन्वयार्थ :: उच्चैः स्थितम् = ऊपर स्थित । शशांक-
कान्तम् = चन्द्रमा के समान कान्ति वाले । स्थगित-भानुकर-प्रतापम्
= सूर्य की किरणों के प्रताप को जिन्होंने रोक दिया है । मुक्ताफल
प्रकरजाल = मोतियों के जाल से । विवृद्ध शोभम् = जिनकी शोभा
बढ़ी हुई है ऐसे । छत्रत्रयम् = तीन छत्र । तव = तुम्हारे । त्रिजगतः =
तीन जगत के । परमेश्वरत्वम् = परम ईश्वरपन को । प्रख्यापयत् =
प्रकट करते हुए । विभाति = शोभित होते हैं ॥31 ॥

अर्थ :: चन्द्रमा के समान रमणीय, ऊपर उठे हुए तथा जिन्होंने
सूर्य की किरणों के प्रताप को रोक दिया है तथा मोतियों के समूह की
रचना से जिनकी शोभा बढ़ी हुई है ऐसे तीन छत्र, आपके तीन जगत
के परम ईश्वरपन को प्रकट करते हुए शोभित होते हैं ॥31 ॥

भावार्थ :: इसमें चतुर्थ 'छत्र' नामक प्रातिहार्य का वर्णन
है । भगवान के तीनों छत्र पाताल, मृत्यु व देवलोक का स्वामित्व प्रकट
करते हैं ॥31 ॥

(32)

गम्भीर-तार-रवपूरित-दिग्विभाग-
त्रैलोक्य-लोक-शुभसंगम-भूतिदक्षः ।
सद्धर्मराज-जयघोषण-घोषकः सन्,
खे दुन्दुभिध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥32 ॥

अन्वयार्थ :: गम्भीर-तार-रवपूरित-दिग्विभागः = गम्भीर तथा ऊँचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करने वाला । त्रैलोक्य-लोक = तीनो लोकों के लोगों का । शुभ-संगम = शुभ सामान्य समागम । भूति-दक्षः = विभूति देने में चतुर ऐसा (और) । ते = तुम्हारे । यशसः = यश का । प्रवादी = कहने वाला । दुन्दुभिः = दुन्दुभि । खे = आकाश में । सद्धर्मराज = सद्धर्मराज की (तीर्थकर देव की) । जय घोषणा = जय घोषणा को । घोषकः सन् = प्रकट करता हुआ । ध्वनति = बजता है ॥32 ॥

अर्थ :: गम्भीर तथा ऊँचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करने वाला, तीन लोक के लोगों को शुभ समागम की विभूति देने में चतुर और आपके यश को प्रकट करने वाली दुन्दुभि आकाश में तीर्थकर देव की जय घोषणा को प्रकट करती हुई गमन करती है ॥32 ॥

भावार्थ :: इस श्लोक में पंचम 'देव दुन्दुभि' नामक प्रातिहार्य का वर्णन है । यह दुन्दुभि भगवान के धर्मराज होने की सर्वत्र घोषणा करती है ॥32 ॥

(33)

मंदार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात-
सन्तानकादि - कुसुमोत्कर-वृष्टिरुद्धा-
गन्धोद-बिन्दु-शुभ-मन्द-मरुत्प्रपाता-
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥33 ॥

अन्वयार्थ :: गन्धोद-बिन्दु = गन्धोदक की बूँदों से । शुभ-
मन्द = मांगलिक और मन्द मन्द । मरुत्प्रपाता = वायु से पतन करने
वाली । उद्धा = देदीप्यमान । दिव्या = दिव्य ऐसी । मन्दार-सुन्दर-
नमेरु = मन्दार, सुन्दर, नमेरु । सुपारिजात-सन्तानकादि = सुपारिजात,
सन्तानक आदि नाम के । कुसुमोत्करवृष्टिः = कल्पवृक्षों के फूलों की
वर्षा । दिवः = आकाश से । पतति = होती है । वा = अथवा । ते =
तुम्हारे । वचसां = वचनों की । ततिः = पंक्ति ही फैलती है ॥33 ॥

अर्थ :: गन्धोदक की बूँदों से युक्त, शुभ और मन्द-मन्द
वायु के साथ गिरने वाली मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, सन्तानक
आदि कल्प वृक्षों के फूलों की वर्षा आकाश से होती है अथवा आपके
वचनों की श्रेष्ठ तथा दिव्य पंक्ति ही फैलती है ॥33 ॥

भावार्थ :: इस श्लोक में 'पुष्प वृष्टि' नामक छठे प्रातिहाय्य
का वर्णन है । भगवान के समवसरण में फूलों की वर्षा ऐसी जान पड़ती
है मानो भगवान के दिव्य वचन ही फैल गये हों ॥33 ॥

(34)

शुम्भत्प्रभावलय - भूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रय - द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद् - दिवाकर - निरन्तर-भूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम् ॥34 ॥

अन्वयार्थ :: हे प्रभो !, प्रोद्यद्-दिवाकर-निरन्तर भूरिसंख्या = देदीप्यमान सघन और अनेक संख्या वाले सूर्य के तुल्य । विभोः = विशेषतः प्रकाशक । ते = तुम्हारे । शुम्भत्-प्रभावलय-भूरि-विभा = शोभायमान प्रभामण्डल की अतिशय प्रभा । लोकत्रय = तीनों लोकों के । द्युतिमताम् = प्रकाशमान पदार्थों की । द्युतिम् = द्युति को । आक्षिपन्ती = तिरस्कार करती हुई (तथा) । सोम-सौम्याम् अपि = चन्द्रमा से मनोहर एवं शीतल । निशाम् अपि = रात्रि को भी । दीप्त्या = अपनी दीप्ति के द्वारा । जयति = जीतती है ॥34 ॥

अर्थ :: हे प्रभो ! देदीप्यमान सघन और अनेक संख्या वाले सूर्यों के तुल्य आपके शोभायमान भामण्डल की अतिशय प्रभा त्रिलोक के प्रकाशमान पदार्थों की द्युति को तिरस्कृत करती हुई, चन्द्रमा के समान शीतल होने पर भी अपनी दीप्ति से रात्रि को भी जीत लेती है ॥34 ॥

भावार्थ :: इस श्लोक में 'भामण्डल' नामक सातवें प्रातिहार्य का वर्णन है । भामण्डल की प्रभा कोटि सूर्य के समान तेजयुक्त होते हुए भी आतप देने वाली न होकर चन्द्रमा के समान शीतल व रात्रि का अन्धकार हरने वाली है ॥34 ॥

(35)

स्वर्गापवर्ग - गममार्ग - विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म - तत्त्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनि - भवति ते विशदार्थ - सर्व-
भाषा-स्वभाव-परिणाम- गुणैः प्रयोज्यः ॥35 ॥

अन्वयार्थ :: स्वर्गापवर्ग-गममार्ग-विमार्गणेष्टः = स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग को अन्वेषण करने में इष्ट । त्रिलोक्याः = तीनों लोकों के । सद्धर्म-तत्त्वकथनैक-पटुः = सद्धर्म के तत्त्वों के कहने में एक मात्र चतुर (और) । विशदार्थ-सर्वभाषा-स्वभाव-परिणाम-गुणैः = विशद अर्थ और उसके समस्त भाषाओं के परिणामन रूप जो गुण, उन गुणों से । प्रयोज्यः = जो युक्त होती है, ऐसी । ते = आपकी । दिव्य-ध्वनिः = दिव्य ध्वनि । भवति = होती है ॥35 ॥

अर्थ :: स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग का अन्वेषण करने में अभीष्ट तथा त्रिलोक के सम्यक् धर्म-तत्त्वों के कहने में एकमात्र चतुर, विस्तृत अर्थ तथा उसके समस्त भाषाओं में परिणामन रूप गुणों से युक्त, आपकी दिव्य ध्वनि होती है ॥35 ॥

भावार्थ :: इसमें आठवें 'दिव्यध्वनि' नामक प्रातिहार्य का वर्णन है । भगवान की वाणी का यह अतिशय है कि जो भी उसको सुनता है वह अपनी भाषा में सरलता से समझ लेता है ॥35 ॥

(36)

उन्निद्रहेम-नवपंकज-पुंजकान्ती-
पर्युल्लसन्नख-मयूख-शिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥36 ॥

अन्वयार्थ :: जिनेन्द्र ! = हे जिनेन्द्र ! उन्निद्रहेम-नव-
पंकज-पुञ्जकान्ति = खिले हुए नवीन स्वर्ण कमलों के सदृश कांति
वाले । पर्युल्लसन् = चारों ओर उछलती हुई । नख-मयूख = नखों की
किरणों के । शिखाभिरामौ = कारण अभिराम । तव = तुम्हारे । पादौ
= चरण । यत्र = जहाँ पर । पदानि = स्थान । धत्तः = धारण करते
हैं । तत्र = वहाँ । विबुधा = देवगण । पद्मानि = सुवर्ण कमलों को ।
परिकल्पयन्ति = परिकल्पित करते हैं ॥36 ॥

अर्थ :: हे जिनेन्द्र ! खिले हुए नवीन स्वर्ण-कमलों के सदृश
कान्ति वाले, और नखों की चमकती हुई किरणों के कारण सुन्दर आपके
चरण जहाँ पर कदम रखते हैं वहाँ पर देव गण कमलों को रचते जाते
हैं ॥36 ॥

भावार्थ :: जहाँ जहाँ भगवान चरण रखते हैं वहाँ-वहाँ
देवगण कमलों की रचना करते जाते हैं ॥36 ॥

(37)

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ? ॥37 ॥

अन्वयार्थ :: जिनेन्द्र ! = हे जिनेन्द्र ! इत्थं = इस प्रकार ।
धर्मोपदेशनविधौ = धर्म का उपदेश देते समय समवशरण में । तव =
तुम्हारी । विभूतिः = समृद्धि । यथा = जैसी । अभूत् = थी । तथा =
वैसी । परस्य = अन्य किसी देव की । न = नहीं हुई । दिनकृतः =
सूर्य की । यादृक् = जैसी । प्रहतान्धकारा = अन्धकार को नष्ट करने
वाली । प्रभा = प्रभा । तादृक् = वैसी प्रभा । विकाशिनः = प्रकाशमान ।
अपि = भी । ग्रहगणस्य = तारागणों की । कुतः = कैसे हो सकती
है ॥37 ॥

अर्थ :: हे जिनेन्द्र ! धर्म का उपदेश देते समय समवशरण
में जैसी आपकी समृद्धि हुई वैसी हरिहरादि दूसरे देवों की नहीं हुई,
क्योंकि सूर्य की अन्धकार को नष्ट करने वाली जैसी प्रभा होती है
वैसी प्रकाशमान तारागणों की कैसे हो सकती है ? ॥37 ॥

भावार्थ :: जैसे प्रकाशमान तारागण सूर्य के समान प्रकाशित
नहीं हो सकते वैसे ही हरिहरादि देव आपकी समवसरण जैसी विभूति
को धारण नहीं कर सकते ॥37 ॥

(38)

श्च्योतन्मदाविल-विलोल- कपोलमूल-
मत्त-भ्रमद् भ्रमर नाद-विवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धत - मापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥38 ॥

अन्वयार्थ :: श्च्योतन्मदा-विल-विलोल-कपोल-मूल = झरते हुए मद से मलिन तथा चंचल गंडस्थल पर । मत्त-भ्रमद् = उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए । भ्रमरनाद = भौरों के शब्दों से । विवृद्धकोपम् = जिसका क्रोध बढ़ा हुआ है, ऐसे । ऐरावताभम् = ऐरावत हाथी के समान आकार वाले । उद्धतम् = उद्धत यानी अंकुशादि को नहीं मानने वाले । आपतन्तम् = ऊपर आते हुए । इभम् = हाथी को । दृष्ट्वा = देखकर । भवत् आश्रितम् = आपके आश्रय में रहने वाले पुरुषों को । भयम् = भय । नो भवति = नहीं होता है ॥38 ॥

अर्थ :: झरते हुए मद से जिसके गण्डस्थल मलिन तथा चंचल हो रहे हैं और उन पर उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए भौर, अपने शब्दों से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं, ऐसे ऐरावत हाथी के समान आकार वाले, निरंकुश तथा ऊपर आक्रमण करने वाले हाथी को देखकर आपके आश्रय में रहने वाले पुरुषों को भय नहीं होता है ॥38 ॥

भावार्थ :: उच्छृंखल, क्रोधित एवं उन्मत हाथी के भय को भी आपकी स्तुति दूर कर देती है ॥38 ॥

(39)

भिन्नेभकुम्भ-गलदुज्ज्वल-शोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकर-भूषित-भूमि-भागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम-युगाचल-संश्रितं ते ॥39 ॥

अन्वयार्थ :: भिन्नेभ-कुम्भगल-दुज्ज्वल = विदीर्ण किये हुए हाथियों के मस्तकों से झरते हुए उज्ज्वल । शोणिताक्त = रक्त से आर्द्र । मुक्ताफल-प्रकर = मोतियों से । भूषित-भूमि-भागः = जिसने भू भाग को सजा दिया है । बद्धक्रमः = आक्रमण के लिए छलाँग भरता हुआ । हरिणाधिपः अपि = सिंह भी । ते = तेरे । क्रमयुगाचल-संश्रितं = चरण कमल रूप पर्वतों में रहने वाले मनुष्य पर (चाहे वह) । क्रमगतं = उसके पैरों के सामने खड़ा है (फिर भी) । न आक्रामति = आक्रमण नहीं करता है ॥39 ॥

अर्थ :: जिसने विदीर्ण किये हुए हाथियों के मस्तकों से गिरते हुए खून से भरे हुए उज्ज्वल मोतियों से पृथ्वी के भाग को सजा दिया है, आक्रमण के लिए छलाँग भरता हुआ ऐसा सिंह भी आपके दोनों चरण रूप पर्वतों का आश्रय लेने वाले मनुष्य पर आक्रमण नहीं कर सकता है ॥39 ॥

भावार्थ :: आपके चरणों का आश्रय लेने वाले मनुष्य पर भयानक सिंह भी आक्रमण नहीं कर सकता है ॥39 ॥

(40)

कल्पान्तकाल - पवनोद्धत - वह्निकल्पम्,
दावानलं ज्वलित-मुज्ज्वल-मुत्स्फुलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नाम-कीर्तन-जलं शमयत्य - शेषम् ॥40 ॥

अन्वयार्थ :: कल्पान्तकाल = प्रलयकाल के । पवनोद्धत = पवन से उत्तेजित हुई । वह्निकल्पम् = अग्नि के सदृश (तथा) । उत्स्फुलिंगम् = ऊपर की ओर उठती हुई । ज्वलितम् = लपटों वाली जलती हुई । उज्ज्वलम् = उज्ज्वल (और) । अशेषम् = सम्पूर्ण । विश्वम् = विश्व को । जिघत्सुम् इव = नष्ट करने को तत्पर की तरह । सम्मुखम् = सामने । आपतन्तम् = आती हुई । दावानलम् = दावाग्नि को । त्वन्नामकीर्तन-जलम् = तुम्हारे नाम का कीर्तन रूपी जल । शमयति = शान्त कर देता है ॥40 ॥

अर्थ :: प्रलयकाल के पवन से उत्तेजित अग्नि के सदृश तथा उठती हुई चिनगारियों वाली, प्रज्वलित एवं ऊपर उठती हुई लपटों वाली और सम्पूर्ण संसार को नाश करने की अभिलाषा युक्त सम्मुख आती हुई दावाग्नि को आपके नाम का कीर्तन रूपी जल शान्त कर देता है ॥40 ॥

भावार्थ :: भयंकर दावाग्नि आपके भक्तजनों का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकती ॥40 ॥

(41)

रक्तेक्षणं समदकोकिल - कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन-मुत्फण-मापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्त-शंकस्-
त्वन्नाम - नागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥41 ॥

अन्वयार्थ :: यस्य = जिस । पुंसः = पुरुष के । हृदि = हृदय में । त्वन्नाम = तुम्हारे नाम रूप । नागदमनी = नागदमनी जड़ी है । क्रमयुगेन = (वह पुरुष) अपने पैरों से । रक्तेक्षणं = लाल नेत्र वाले । समद = मदोन्मत्त । कोकिल-कण्ठनीलं = कोयल के कण्ठ के समान काले । क्रोधोद्धतम् = क्रोध से उद्धत हुए । उत्फणम् = फण उठाकर । आपतन्तम् = डसने को आते हुए । फणिनम् = सर्प को । निरस्तशंकस् = शंका रहित होकर । आक्रामति = उल्लंघन कर जाता है ॥41 ॥

अर्थ :: जिस पुरुष के हृदय में तुम्हारे नाम रूप नागदमनी जड़ी विद्यमान है वह अपने पैरों से लाल नेत्र वाले, उन्मत्त, कोयल के कण्ठवत् काले, क्रोध से उद्धत, फण उठाकर डसने को आते हुए सर्प को निर्भय होकर लाँघ जाता है ॥41 ॥

भावार्थ :: आपके नामरूपी नागदमनी जड़ी होने से भयानक सर्प भी कुछ नहीं करता । अर्थात् भक्तजन साँपों से निर्भय रहते हैं ॥41 ॥

(42)

वल्गत्तुरंग - गज-गर्जित - भीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकर-मयूख-शिखा-पविद्धम्,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥42 ॥

अन्वयार्थ :: आजौ = संग्राम में । त्वत्कीर्तनात् = आपके नाम का कीर्तन करने से । बलवताम् = बलवान । भूपतीनाम् = राजाओं के । वल्गत्तुरंग-गजगर्जित-भीमनादम् = दौड़ते घोड़ों और हाथियों की गर्जना से जिसमें भयंकर शब्द हो रहे हैं ऐसा । बलम् अपि = सैन्य भी । उद्यद्दिवाकर-मयूख = उदय को प्राप्त हुए सूर्य की किरणों के । शिखा-पविद्धम् = अग्र भाग से नष्ट हुए । तमः इव = अन्धकार के समान । आशु = शीघ्र ही । भिदाम् = नाश को । उपैति = प्राप्त हो जाता है ॥42 ॥

अर्थ :: बलवान राजाओं के दौड़ते हुए घोड़ों और हाथियों की गर्जना से भयंकर शब्द हो रहे हैं ऐसा सैन्य बल भी संग्राम में आपके नाम का स्मरण करने से उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार उदित सूर्य की किरणों के अग्रभाग से अन्धकार नाश को प्राप्त होता है ॥42 ॥

भावार्थ :: जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार भयानक संग्राम में आपके नाम के कीर्तन से बड़ा से बड़ा सैन्य बल भी नष्ट हो जाता है ॥42 ॥

(43)

कुन्ताग्र-भिन्न-गज-शोणित-वारिवाह-
वेगावतार - तरणातुर - योधभीमे ।
युद्धे जयं विजित-दुर्जय-जेय-पक्षास्-
त्वत्पाद-पंकज-वना-श्रयिणो लभन्ते ॥43 ॥

अन्वयार्थ :: कुन्ताग्र-भिन्न = बरछी की नोकों से छिन्न-भिन्न । गज-शोणित-वारिवाह = हाथियों के रक्त रूपी जल प्रवाह के । वेगावतार-तरणातुर-योध-भीमे = वेग में पड़े हुए और तैरने के लिए आतुर योद्धाओं से जो भयानक दिख रहा है, ऐसे । युद्धे = युद्ध में । त्वत्पादपंकज = आपके चरणकमल रूपी । वनाश्रयिणोः = वन का आश्रय लेने वाले । विजित-दुर्जय-जेय-पक्षाः = दुर्जय शत्रु पक्ष को जीतने वाले । जयम् = विजय को । लभन्ते = प्राप्त करते हैं ॥43 ॥

अर्थ :: भालों की नोकों से छिन्न-भिन्न हुए हाथियों के रक्त रूपी जल प्रवाह के वेग में पड़े हुए और उसे तैरने के लिए आतुर योद्धाओं से जो भयानक दिख रहा है, ऐसे युद्ध में आपके चरण कमल रूपी वन का आश्रय लेने वाले पुरुष दुर्जय शत्रु पक्ष को जीतते हुए विजय को प्राप्त करते हैं ॥43 ॥

भावार्थ :: जहाँ रक्त पानी की तरह बह रहा है, ऐसे महासंग्राम में भी आपके चरण कमलों की सेवा करने वाले भक्तजन आसानी से विजय प्राप्त कर लेते हैं ॥43 ॥

(44)

अम्भो-निधौ क्षुभित-भीषण-नक्र-चक्र-
पाठीन-पीठ-भयदोल्बण - वाडवाग्नौ ।
रंगत्तरंग-शिखरस्थित - यान पात्रास्-
त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्-व्रजन्ति ॥44 ॥

अन्वयार्थ :: भवतः = आपके । स्मरणात् = स्मरण से ।
भीषण-नक्र-चक्र = भीषण मगरमच्छ । पाठीनपीठभय-दोल्बण-
वाडवाग्नौ = पाठीन एवं पीठ जाति की मछलियों से तथा भय-जनक
और विकराल वडवाग्नि से । क्षुभित = क्षुभित । अम्भोनिधौ = समुद्र
में । रंगत्तरंग = उछलती हुई तरंगों । शिखरस्थित = शिखरों पर । यान
पात्राः = जिनके जहाज पड़े हुए हैं, ऐसे पुरुष । त्रासं विहाय = बिना
कष्ट के । व्रजन्ति = पार चले जाते हैं ॥44 ॥

अर्थ :: भीषण मगर या घड़ियाल, पाठीन तथा पीठ जाति
की मछलियों तथा भयानक और विकराल वडवाग्नि से क्षुभित समुद्र
में उछलती हुई तरंगों के शिखर पर जिनके जहाज स्थित हैं, ऐसे पुरुष
भी आपको स्मरण करने से बिना कष्ट के पार चले जाते हैं ॥44 ॥

भावार्थ :: आपके नाम का स्मरण करने से भयानक समुद्र
में फँसे हुए जहाज में स्थित पुरुष भी आसानी से पार चले जाते
हैं ॥44 ॥

(45)

उद्भूत-भीषण-जलोदर-भार-भुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत-जीविताशाः ।
त्वत्पाद-पंकज-रजोऽमृत-दिग्ध-देहाः,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥45 ॥

अन्वयार्थ :: उद्भूत = उत्पन्न हुए । भीषण-जलोदर-भार
भुग्नाः = भयानक जलोदर के भार से जो कुबड़े होकर । शोच्यां दशां
= शोचनीय अवस्था को । उपगताः = प्राप्त हो गए हैं ।
च्युतजीविताशा = जीने की आशा छोड़ चुके हैं, (ऐसे) । मर्त्या =
मनुष्य । त्वत्पादपंकज-रजोऽमृत = तुम्हारे चरण-कमलों की धूलि के
अमृत से । दिग्धदेहाः = देह लिप्त करके । मकरध्वज = कामदेव के ।
तुल्यरूपाः = समान रूप वाले । भवन्ति = हो जाते हैं ॥45 ॥

अर्थ :: उत्पन्न हुए भयानक जलोदर के भार से जो कुबड़े
होकर शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं तथा जीने की आशा
छोड़ चुके हैं, ऐसे मनुष्य भी आपके चरण-कमलों की धूलि रूपी अमृत
को शरीर पर लगाकर कामदेव के समान रूप वाले हो जाते हैं ॥45 ॥

भावार्थ :: भगवान के चरण-कमलों की धूलि से ही
भयानक जलोदर रोग से पीड़ित रोगी भी ठीक हो जाते हैं ॥45 ॥

(46)

आपाद-कण्ठ-मुरुशृंखल-वेष्टितांगा,
गाढं बृहन्निगड-कोटि-निघृष्ट-जंघाः ।
त्वन्नाममंत्र-मनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत-बन्ध-भया भवन्ति ॥46 ॥

अन्वयार्थ :: आपादकण्ठम् = पैरों से लेकर कण्ठ तक ।
उरुशृंखल = बड़ी-बड़ी बेड़ियों से । वेष्टितांगा = जिनके अंग जकड़े
हुए हैं । गाढम् = प्रगाढ़ । वृहन्निगडकोटि = बड़ी-बड़ी बेड़ियों के
किनारों से । निघृष्ट-जंघाः = जिनकी जंघाएँ छिल गई हैं, (ऐसे) मनुजाः
= मनुष्य । त्वन्नाममन्त्रम् = तुम्हारे नाम रूपी मन्त्र को । अनिशम् =
लगातार । स्मरन्तः = स्मरण करते हुए । सद्यः = तत्काल ही । स्वयं
= अपने आप । विगतबन्धभया = बन्धन के भय से मुक्त । भवन्ति =
हो जाते हैं ॥46 ॥

अर्थ :: जिनके अंग पैरों से लेकर गले तक बड़ी-बड़ी बेड़ियों
से जकड़े हुए हैं तथा इन बड़ी-बड़ी बेड़ियों के नोंक से जिनकी जंघाएँ
छिल गयी हैं, ऐसे मनुष्य भी आपके नाम रूपी मन्त्र का लगातार स्मरण
करते हुए तत्काल ही अपने आप बन्धन के भय से रहित हो जाते
हैं ॥46 ॥

भावार्थ :: आपके नाम रूपी मन्त्र का सतत स्मरण करने
से बन्धनों से जकड़े हुए कैदी भी स्वतः ही बन्धन से मुक्त हो जाते
हैं ॥46 ॥

(47)

मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर - बन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥47 ॥

अन्वयार्थ :: यः = जो । मतिमान् = बुद्धिमान् । इमम् = इस । तावकं = तुम्हारे । स्तवम् = स्तोत्र का । अधीते = अध्ययन करता है । तस्य = उसके । मत्त-द्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम् = मस्त गजराज, सिंह, दवाग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, जलोदर रोग, और बन्धन इन आठ कारणों से उत्पन्न हुआ । भयम् = भय । भिया इव = डरे हुए की तरह । आशु = शीघ्र ही । नाशम् = नाश को । उपयाति = प्राप्त हो जाता है ॥47 ॥

अर्थ :: जो बुद्धिमान् पुरुष आपके इस स्तोत्र को पढ़ता है, उसके उन्मत्त हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, संग्राम, समुद्र, जलोदर रोग और बन्धन (कारागृह) इन आठ कारणों से उत्पन्न हुआ भय स्वयं ही भयभीत होकर शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥47 ॥

भावार्थ :: जो पुरुष आपके इस स्तोत्र का निरन्तर पाठ करता है, उस पुरुष के उक्त आठ एवं इसके सदृश सभी प्रकार के अन्य भय डर कर स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं ॥47 ॥

(48)

स्तोत्र-स्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिर-वर्ण-विचित्र-पुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुंग - मवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥48 ॥

अन्वयार्थ :: जिनेन्द्र ! = हे जिनेन्द्र ! इह = इस लोक में ।
मया = मेरे द्वारा । भक्त्या = भक्तिपूर्वक । गुणैः = अनन्त ज्ञानादि गुणों
से । निबद्धाम् = गूँथी हुई । रुचिर-वर्ण-विचित्र-पुष्पाम् = मनोज्ञ
अकारादि वर्णों के विचित्र फूलों वाली । तव = तुम्हारी । स्तोत्र-स्रजम्
= स्तोत्र माला को । यः = जो पुरुष । अजस्रम् = सदैव । कण्ठगताम्
= कण्ठ में । धत्ते = धारण करता है । तम् = उसे । मानतुंगम् = मानने
से ऊँचे अर्थात् आदरणीय पुरुष को । लक्ष्मीः = लक्ष्मी । अवशा =
विवश होकर । समुपैति = प्राप्त करती है ॥48 ॥

अर्थ :: हे जिनेन्द्र ! इस संसार में मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक अनन्त
ज्ञानादि गुणों से गूँथी हुई मनोज्ञ अकारादि वर्णों के विचित्र पुष्पों वाली
आपकी इस स्तोत्र माला को जो पुरुष सदैव कण्ठ में धारण करता है
उस आदरणीय पुरुष को राज्य, स्वर्ग, मोक्ष और सत्काव्य रूप लक्ष्मी
विवश होकर प्राप्त होती है ॥48 ॥

भावार्थ :: इस श्लोक में फलश्रुति बताते हुए कहा है कि
जो पुरुष इस स्तोत्र का सदैव पाठ करता है, कण्ठ में धारण करता है
उस पुरुष का लक्ष्मी विवश होकर स्वयं वरण करती है ॥48 ॥

भक्तामर-स्तोत्र मूल

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पापतमो वितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥1 ॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मय-तत्त्व-बोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय-चित्त-हरै-रुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥2 ॥

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित-पादपीठ
स्तोतुं समुद्यत-मतिर्विगत-त्रपोऽहं ।
बालं विहाय जलसंस्थित-मिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ब्रहीतुम्? ॥3 ॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र शशांक-कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-नक्र-चक्रं,
क्वे वा तरीतु-मल-मम्बु-निधिं भुजाभ्याम्? ॥4 ॥

सोऽहं तथापि तव भक्ति-वशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्याऽत्म-वीर्य-मविचार्य मृगो मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्? ॥5 ॥

अल्प-श्रुतं श्रुतवतां परिहास-धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरी-कुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाग्न-चारु-कलिका-निकरैक-हेतुः ॥6 ॥

त्वत्संस्तवेन भवसंतति - सन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीर भाजाम् ।
आक्रान्त-लोक-मलिनील-मशेष-माशु,
सूर्याशु-भिन्नमिव शार्वर-मन्धकारम् ॥7 ॥

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफल - द्युति - उपैति ननूदबिन्दुः ॥8 ॥

आस्तां तव स्तवन-मस्त-समस्त-दोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्र-किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास-भाञ्जि ॥9 ॥

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण-भूतनाथ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्त-मभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥10 ॥

दृष्ट्वा भवन्त - मनिमेष विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकर-द्युति-दुग्ध-सिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे-रसितुं क इच्छेत्? ॥11 ॥

यैः शान्तराग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रि-भुवनैक - ललाम - भूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्,
यत्ते समान-मपरं न हि रूप - मस्ति ॥12 ॥

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरग - नेत्रहारि,
निश्शेष - निर्जित-जगत्त्रितयो-पमानम् ।
बिम्बं कलंक - मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाश-कल्पम् ॥13 ॥

सम्पूर्ण-मण्डल-शशांक-कला-कलाप-
शुभ्रा-गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर! नाथमेकम्,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्? ॥14 ॥

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभिर्-
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पांत - काल - मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्? ॥15 ॥

निर्धूमवर्ति - रपवर्जित - तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः ॥16 ॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भो - धरोदर - निरुद्ध-महा-प्रभावः,
सूर्यातिशायि-महिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥17 ॥

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्ज - मनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगद-पूर्व -शशांक-बिम्बम् ॥18 ॥

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा ?
युष्मन्मुखेन्दु - दलितेषु तमस्सु नाथ!
निष्पन्नशालि - वनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरै-र्जलभार-नम्रैः ? ॥19 ॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥20 ॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि? ॥21 ॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥22 ॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्य-वर्ण-ममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥23 ॥

त्वामव्ययं विभु-मचिन्त्य-मसंख्य-माद्यं,
ब्रह्माणामीश्वर - मनंत - मनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदित-योग-मनेकमेकं,
ज्ञान-स्वरूप-ममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥24 ॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धि-बोधात्,
 त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात् ।
 धाताऽसि धीर ! शिवमार्ग विधे-विधानात्,
 व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥25 ॥

तुभ्यं नमस्त्रि - भुवनार्तिहराय नाथ !
 तुभ्यं नमः क्षितितलामल - भूषणाय ।
 तुभ्यं नमस्त्रि - जगतः परमेश्वराय,
 तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि - शोषणाय ॥26 ॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैर-शेषैस्-
 त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश!
 दोषैरुपात्त - विविधाश्रय - जात - गर्वैः,
 स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिद-पीक्षितोऽसि ॥27 ॥

उच्चैरशोक - तरु - संश्रित-मुन्मयूरव-
 माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
 स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमोवितानं,
 बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥28 ॥

सिंहासने मणिमयूरव-शिखा-विचित्रे,
 विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
 बिम्बं वियद्-विलस-दंशु-लता-वितानम्,
 तुंगोदयाद्रि-शिरसीव सहस्ररश्मेः ॥29 ॥

कुन्दावदात-चल-चामर - चारु - शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत-कान्तम्।
उद्यच्छांक - शुचिनिर्झर - वारि - धार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥30 ॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त-,
मुच्चैः स्थितं स्थगित-भानुकर-प्रतापम्।
मुक्ताफल - प्रकर-जाल-विवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥31 ॥

गम्भीर - तार - रवपूरित - दिग्बिभाग-
स्त्रैलोक्य-लोक - शुभसंगम-भूतिदक्षः।
सद्धर्मराज - जयघोषण - घोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥32 ॥

मंदार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात-
सन्तानकादि - कुसुमोत्कर - वृष्टिरुद्धा-
गन्धोद-बिन्दु-शुभ - मन्द-मरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥33 ॥

शुम्भत्प्रभावलय - भूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रय-द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्-दिवाकर - निरन्तर-भूरि-संख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम् ॥34 ॥

स्वर्गापवर्ग - गममार्ग - विमार्गणोष्टः,
सद्धर्म - तत्त्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनि - भवति ते विशदार्थ - सर्व-
भाषा-स्वभाव-परिणाम-गुणैः प्रयोज्यः ॥35 ॥

उन्निद्रहेम - नवपंकज - पुंजकान्ती-
पर्युल्लसन्नख - मयूख - शिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥36 ॥

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ब्रह्मगणस्य विकाशिनोऽपि ? ॥37 ॥

श्च्योतन्मदाविल - विलोल- कपोलमूल-,
मत्त-भ्रमद् भ्रमर नाद-विवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धत - मापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥38 ॥

भिन्नेभकुम्भ-गलदुज्ज्वल-शोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकर-भूषित-भूमि-भागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम-युगाचल-संश्रितं ते ॥39 ॥

कल्पान्तकाल - पवनोद्धत - वह्निकल्पम्,
दावानलं ज्वलित-मुज्ज्वल-मुत्स्फुरलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नाम-कीर्तन-जलं शमयत्य-शेषम् ॥40 ॥

रक्तेक्षणं समदकोकिल - कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन-मुत्फण-मापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्त-शंकस्-
त्वन्नाम - नागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥41 ॥

वल्गात्तुरंग - गज-गर्जित - भीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकर-मयूख-शिखा-पविद्धम्,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥42 ॥

कुन्ताद्य-भिन्न-गज-शोणित-वारिवाह-
वेगावतार - तरणातुर - योधभीमे ।
युद्धे जयं विजित-दुर्जय-जेय-पक्षास्,
त्वत्पाद-पंकज-वना-श्रयिणो लभन्ते ॥43 ॥

अम्भो-निधौ क्षुभित-भीषण-नक्र-चक्र-
पाठीन-पीठ-भयदोल्बण - वाडवाग्नौ ।
रंगत्तरंग - शिखरस्थित - यान पात्रास्-
त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्-व्रजन्ति ॥44 ॥

उद्भूत-भीषण-जलोदर-भार-भुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत-जीविताशाः ।
त्वत्पाद-पंकज - रजोऽमृत-दिग्ध-देहाः,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥45 ॥

आपाद-कण्ठ - मुरुशृङ्खल - वेष्टितांगा,
गाढं बृहन्निगड-कोटि-निघृष्ट-जंघाः ।
त्वन्नाममंत्र-मनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत-बन्ध-भया भवन्ति ॥46 ॥

मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज - दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर - बन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥47 ॥

स्तोत्र-स्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिर-वर्ण-विचित्र-पुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुंग - मवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥48 ॥

★★★★★

भक्तामर-स्तोत्र : पद्यानुवाद हिन्दी

सुर नत मुकुट रतन छवि करें,
अन्तर पाप तिमिर सब हरेँ ।
जिन पद वन्दों मन वच काय,
भव जल पतित उधारन सहाय ॥1 ॥

श्रुति पारग इन्द्रादिक देव,
जाकी स्तुति कीनी कर सेव ।
शब्द मनोहर, अर्थ विशाल,
तिस प्रभु की वरनों गुणमाल ॥2 ॥

विबुध वंद्य पद मैं मति हीन,
होय निर्लज्ज स्तुति मनसा कीन ।
जल प्रतिबिम्ब बुद्ध को गहै ?
शशि मण्डल बालक ही चहै ॥3 ॥

गुण समुद्र! तुम गुण अविकार,
कहत न सुरगुरु पावे पार ।
प्रलय पवन उद्धत जलजन्तु,
जलधि तिरै को भुज बलवन्तु ॥4 ॥

सो मैं शक्ति हीन स्तुति करूँ,
भक्ति भाव वश कछु नहीं डरूँ ।
ज्यों मृग निज सुत रक्षण हेत,
मृगपति सन्मुख जाय अचेत ॥5 ॥

मैं शठ सुधी हँसन को धाम,
मुझ तव भक्ति बुलावे राम ।
ज्यों पिक अम्ब कली प्रभाव,
मधु ऋतु मधुर करे आराव ॥6 ॥

तुम जस जपत जिन छिन माँहि,
जन्म जन्म के पाप नसाँहि ।
ज्यों रवि उदय फटे तत्काल,
अलि-वत् नील निशा-तम जाल ॥7 ॥

तुम प्रभावतै करहुँ विचार,
होसी यह स्तुति जन मन हार ।
ज्यों जल कमल पत्र पै परै,
मुक्ताफल की द्युति विस्तरै ॥8 ॥

तुम गुण महिमा हरत दुःख दोष,
सो तो दूर रहो सुख पोष ।

पाप विनाशक है तुम नाम,
कमल विनाशी ज्यों रविधाम ॥9 ॥

नहिं अचंभ जो होहिं तुरन्त,
तुमसे तुम गुण वरणत सन्त ।
जो अधीन को आप समान,
करै न सो निंदित धनवान ॥10 ॥

इक टक जन तुमको अवलोय,
और विषै रति करे न सोय ।
जो कीन्है खीर जलधि जलपान,
सो क्यों खार नीर पीवै मतिमान ॥11 ॥

प्रभु तुम वीतराग गुण लीन,
जिन परमाणु देह तुम कीन ।
हैं इतने ही ते परमाणु,
यातै तुम सम रूप न औरु ॥12 ॥

कहाँ तुम मुख अनुपम अविकार,
सुर नर नाग नयन मनहार ।
कहाँ चन्द्र मण्डल सकलंक,
दिन में ढाकपत्र-सम रंक ॥13 ॥

पूरन चन्द्र ज्योति छविवंत,
 तुम गुण तीन जगत लंघंत।
 एक नाथ त्रिभुवन आधार,
 तिन विचरत को सके निवार ॥14 ॥

जो सुरतिय विभ्रम आरम्भ,
 मन डिग्यो तुम तो न अचंभ।
 अचल चलावै प्रलय समीर,
 मेरु शिखर डगमगे न धीर ॥15 ॥

धूमरहित बाती गत-नेह,
 प्रकाशै त्रिभुवन धर येह।
 वातगम्य नाहिं परचंड,
 अपर दीप तुम जलो अखण्ड ॥16 ॥

छिपहुँ न लुपहुँ राहु की छाँहि,
 जग प्रकाशक हो छिन माँहि।
 धन अनवर्त्त दाह विनिवार,
 रवि तैं अधिक धरौं गुणसार ॥17 ॥

सदा उदित विदलित-तम मोह,
 विघटित मेघ राहु अवरोह।

तुम मुख कमल अपूर्व चन्द,
जगत विकाशी जोति अमन्द ॥18 ॥

निशदिन शशि रवि को नहीं काम,
तुम मुख चंद हरै तम धाम ।
जो स्वभावतैं उपजै नाज,
सजल मेघ तै कौनहु काज ॥19 ॥

जो सुबोध सोहे तुम माँहि,
हरि हर आदिक में सो नाहिं ।
जो द्युति महारतन में होय,
काँच खण्ड पावै नहिं सोय ॥20 ॥

सराग देव देख मैं भला विशेष मानिया,
स्वरूप जाहि देख वीतराग तू पिछानिया ।
कछु न तोहि देख के जहाँ तुही विसेखिया,
मनोग चित्तचोर और भूलहू न देखिया ॥21 ॥

अनेक पुत्रवन्तिनी नितंबिनी सपूत हैं,
न तो समान पुत्र और माततैं प्रसूत हैं ।
दिशाधरन्त तारिका अनेक कोटि को गिनै,
दिनेश तेजवन्त एक पूर्व की दिशा जनै ॥22 ॥

पुरान हो पुमान हो पुनीत पुण्यवान हो,
कहैं मुनीश अन्धकार नाश को सुभान हो
महन्त तोहि जानिके न होय वश कालके,
न और मोहि मोख पंथ देव तोहि टालके ॥23 ॥

अनन्त नित्य चित्तके अगम्य रम्य आदि हो,
असंख्य सर्वव्यापि विष्णु ब्रह्म हो अनादि हो।
महेश कामकेतु जोग-ईश जोग ज्ञान हो,
अनेक एक ज्ञान रूप शुद्ध संतमान हो ॥24 ॥

तू ही जिनेश बुद्ध है सुबुद्धि के प्रमाणतैं,
तू ही जिनेश शंकरौ जगत्त्रयै विधानतैं।
तू ही विधाता है सही सुमोख पंथ धारतैं,
नरोत्तमो तू ही प्रसिद्ध अर्थ के विचारतैं ॥25 ॥

नमन करूँ जिनेश! तोहि आपदा निवार हो,
नमन करूँ सुभूरि भूमि लोक के शृंगार हो।
नमन करूँ भवाब्धि नीर राशि शोष हेतु हो,
नमन करूँ महेश तोहि मोख पंथ देतु हो ॥26 ॥

तुम जिन पूरण गुण गण भरे,
दोष गर्व करि तुम परिहरे।

और देवगण आश्रय पाय,
सुपन न देखे तुम फिर आय ॥27 ॥

तरु अशोक तर किरण उदार,
तुम तनु शोभित है अविकार ।
मेघ निकट ज्यों तेज फुरन्त,
दिनकर दिपै तिमिर हरन्त ॥28 ॥

सिंहासन मणि किरण विचित्र,
तापर कंचन वर्ण पवित्र ।
तुम तनु शोभित किरण विथार,
ज्यों उदयाचल रवि तमहार ॥29 ॥

कुन्द पुहुपसित चमर ढरन्त,
कनक वर्ण तुम तनु शोभंत ।
ज्यों सुमेरु तट निर्मल कान्ति,
झरना झरें नीर उमगांति ॥30 ॥

ऊँचे रहें सुर-दुति लोप,
तीन छत्र तुम दीपें अगोप ।
तीन लोक की प्रभुता कहैं,
मोती झालर सों छवि लहैं ॥31 ॥

दुन्दुभि शब्द गहर गंभीर,
चहुँ दिश होय तुम्हारे धीर ।
त्रिभुवन जन शिव संगम करें,
मानों जय जय रव उच्चरें ॥32 ॥

मन्द पवन गन्धोदक इष्ट,
विविध कल्पतरु पुहुप सुवृष्ट ।
देव करें विकसित दल सार,
मानों द्विज पंकति अवतार ॥33 ॥

तुम तन-भामंडल जिन चन्द,
सब दुति वन्त करत है मन्द ।
कोटि शंख रवि तेज छिपाय,
शशि निर्मल निशि करे अछाय ॥34 ॥

स्वर्ग मोक्ष मार्ग संकेत,
परम धरम उपदेशन हेत ।
दिव्य वचन तुम खिरें अगाध,
सब भाषा गर्भित हित साध ॥35 ॥

विकसित सुवर्न कमल दुति, नख दुति मिल चमकाहिं ।
तुम पद पदवी जहँ धरें, तहँ सुर कमल रचाहिं ॥

ऐसी महिमा तुम सिवाय, और धरें नहि कोय ।
सूरज में जो ज्योति है, नहि तारागण में होय ॥36 ॥

मद अवलिप्त कपोल मूल अलिकुल झंकारैं,
तिन सुनि शब्द प्रचण्ड, क्रोध उद्धत अति धारैं ।
काल वरन विकराल, काल वत् सनमुख आवैं,
ऐरावत से प्रबल, सकल जन भय उपजावे ॥37 ॥

देखि गयंद न भय करैं, तुम पद महिमा लीन,
विपत्तिरहित सम्पत्ति सहित, वरतैं भक्त अधीन ।
अति मद मत्त गयंद, कुम्भथल नखन विदारैं,
मोती रक्त समेत, डारि भूतल सिंगारैं ॥38 ॥

बाँकी दाढ़ विशाल - वदन में रसना लोलै,
भीम भयंकर रूप देखि, जन थर हर डोलै ।
ऐसे मृगपति पग तले, जो नर आयो होय,
शरण गहैं तुम चरन की, बाधा करै न सोय ॥39 ॥

प्रलय पवन कर उठी, आग जो तास पटंतर,
बमें फुलिंग शिखा उतंग, पर जलै निरन्तर ।
जगत समस्त निगल्ल, भस्म कर देगी मानों,
तड़तड़ाट दव-अनल, जोर चहुँ दिशा उठानों ।

सो इक छिनमें उपशमें, नाम-नीर तुम लेत,
होय सरोवर परिनमें, विकसित कमल समेत ॥40 ॥

कोकिल कंठ समान, श्याम तन क्रोध जलंता,
रक्तनयन फुङ्कार, मार विषकण उगलंता ।
फण को ऊँचा करै, वेग ही सन्मुख धाया,
तब जन होय निशंक, देख फणपति को आया ।
जो चापें निज पाँवतैं, व्यापै विष न लगाय,
नाग दमन तुम नामकी, है जिनके आधार ॥41 ॥

जिस रण माहिं भयानक, शब्द कर रहे तुरंगम,
घन सम गज गरजहिं, मत्त मानों गिरिजंगम ।
अति कोलाहल माँहि, बात जहँ नाहिं सुनी जै,
राजन को प्रचण्ड देख, बल धीरज छीजै ।
नाथ तिहारे नामतैं, सो छिन माहिं पलाय,
ज्यों दिनकर प्रकाशतैं, अन्धकार विनशाय ॥42 ॥

मारे जहाँ गयंद, कुम्भ हथियार विदारे,
उमगे रुधिर-प्रवाह, वेग जल से विस्तारे ।
होय तिरन असमर्थ-महा योद्धा बल पूरे,
तिस रण में जिन तोय भक्त-जे हैं नर सूरे ।

दुर्जय अरि कुल जीतके, जय पावें निकलंक,
तुम पद पंकज मन बसै, ते नर सदा निशंक ॥43 ॥

नक्र चक्र मगरादि-मच्छ करि भय उपजावै,
जामें बड़वा अग्नि, दाहतैं नीर जलावै ।
पार न पावै जासु, थाह नहिं लहिये जाकी,
गरजै अति गंभीर, लहर की गिनति न ताकी ।
सुख सो तिरै समुद्र को, जे तुम गुण सुमराहिं,
लोल कलोलन के शिखर, पार यान ले जाहिं ॥44 ॥

महा जलोदर - रोग, भार पीड़ित नर जे हैं,
वात पित्त कफ कुष्ठ, आदि जे रोग गहै हैं ।
सोचत रहैं उदास, नाहिं जीवन की आशा,
अति घिनावनी देह, धरैं दुर्गन्ध निवासा ।
तुम पद पंकज धूल को, जो लावैं निज अंग,
ते निरोग शरीर लही, छिन में होहिं अनंग ॥45 ॥

पाँव कंठते जकरि, बाँध साँकल अति भारी,
गाढ़ी बेड़ी पैरमाँही, जिन जाँघ विदारी ।
भूख प्यास चिंता शरीर, दुःख से बिलबिलाने,
शरण नाँहि जिन कोय, भूप के बन्दीखाने ।

तुम सुमरत स्वयमेव ही, बन्धन सब खुल जाँहि,
छिन में ते सम्पत्ति लहै, चिन्ता भय बिनसाहि ॥46 ॥

महामत्त गजराज, और मृगराज दावानल,
फणपति रण प्रचंड, नीर निधि रोग महाबल ।
बन्धन के ये भय आठ, डरकर मानों नाशै,
तुम सुमरत छिन माँही, अभय थानक परकाशै ।
इस अपार संसार में, शरण नाहिं प्रभु कोय,
यातैं तुम पद भक्त को, भक्ति सहाई होय ॥47 ॥

यह गुण माल विशाल नाथ! तुम गुणन सवारी,
विविध वर्णमय पुष्प, गूँथि मैं भक्ति विथारी ।
जे नर पहरैं कंठ, भावना मन में भावैं,
मान तुंग ते निजाधीन, शिव लक्ष्मी पावैं ।
भाषा भक्तामर कियो, 'हेमराज' हित हेत,
जे नर पढ़ैं सुभावसौं, ते पावैं शिव खेत ॥48 ॥

॥ इति भक्तामर स्तोत्र ॥

BHAKTAMAR

- (1) After duly and respectfully bowing at the pair of feet of the great Almighty (the conqueror), the feet, which illuminate the lustre of the gems-studded in the diadems of the devout gods having bent down in obeisance to Lord Adinath; the feet which are the destroyers of the canopy of the sins and are the Isle of rescue to the persons falling in the ocean of the World in this quadrant period.
- (2) (It is strange that) I should conduct the Eulogy of the first Jinendra (the biggest conqueror) who has been hymned and worshipped in magnificent encomiums and thus magnetising the hearts of the people of the three worlds, composed by the Lords of Gods talented in grasping the essence of the sacred scriptures.
- (3) Due to immodesty and impudence, I though deficient in intellect, am intent on praising

your foot stool (out of courtesy, it means feet) which has been already worshipped by the celestial gods. Who else but a child wants to catch hurriedly the image of the moon reflected in water ?

- (4) O yee ! The ocean of virtues ! Who can, be he in intelligence, like the preceptor of celestial gods, describe thy bright merits glittering like the lustre of the moon ? Who can swim with his arms the tumultuous ocean abounding in crocodiles and alligators and agitated by the tempest of the world's final Annihilation.
- (5) O ye supreme Sage ! Though I am deficient in calibre and devoid of intellect, yet prompted by my devotion to you, I undertake to compose this Encomium. Does not a doe impelled by the affection for her fawn oppose the lion to deliver her young ones from his clutches not considering her prowess ?
- (6) My devotion to you alone impels me to become garrulous in this panegyric-me, a man of petty knowledge and hence an object

of ridicule in the society of persons learned in the lore of spiritual science; just as the cluster of the mango sprouts incites the cuckoo to coo the melodious tune in the spring season.

- (7) Just as the rays of the sun quickly and completely destroy the darkness stretching into the Universe, as black as the bees, similarly the Sins of the living beings having accrual in the never ending chain of transmigrations are instantaneously annihilated by praising you.
- (8) O Lord ! I assume that this panegyric though composed by me-a man of scanty intellect, will under thy influence captivate the minds of noble persons. Indeed the drops of water in contact with the lotus-leaves do obtain the splendour of pearls.
- (9) Although the sun is far away, yet through its radiance alone blossoms the lotuses in the ponds. Likewise what to say about your Encomium, which is free of all defect, the narration of thy doings will itself prove

destructive of the evils of the Living Beings.

- (10) O supremely splendid personality of the world and the protector of the living beings ! It is not surprising that those who eulogies you, the abode of true virtues, become equal to you. What is the use of a master if he does not make his dependents equal to him in wealth and dignity.
- (11) The eyes of man after seeing you, who deserves to be looked at always with untwinkling eyes, do not find satisfaction elsewhere. Who will like to sip the saline water of the sea after he has tasted the water of the milky sea possessing the splendour of the moon.
- (12) O unique embellishment of the three worlds ! Those quiet and splendid atoms with which your body has been built, are in fact limited to that extent only, as there is no other Beauty like you on this Earth.
- (13) O Ye Lord ! Thy splendid face which has focussed the eyes of gods, men and

serpents, surpasses all the objects of comparison in this three fold world. How can it be compared to the disc of the moon which is stained by dark spots and turns pale in the day like leaves of Buteafrondosa (Palash).

(14) O Lord ! Your illuminating virtues as bright as the silvery moon outstep the three worlds. How can those who have been patronised by the singular and matchless Almighty of the three Worlds be impeded by any body in their free movement.

(15) It is no wonder if the celestial goddesses could not deflect your mind even a bit towards carnal inclinations. Can the gales of the Doom's Day (World's final Annihilation) shaking all the mountains, ever shake the peak of Mount Sumeru?

(16) O Lord ! You are the supernatural lamp of rare splendour illuminating the entire Universe (diffusing right knowledge) with no smoke (hatred), no wick (sensual desires), no oil (attachment) and unaffected by the

storms (heretical one sided dogmatisms).

- (17) As you never set, you are neither affected by the Rahu (eclipse), nor your supernatural grandeur ever over-shadowed by the cumulus of the clouds and as you simultaneously enlighten the entire Universe, you, therefore, O Supreme Sage ! Excel the grandeur of the Sun.
- (18) O Lord ! Your splendent lotus-like face which always remains risen, has destroyed the darkness of delusion, can never be affected by the Rahu nor shadowed by the clouds, and which has always illuminated the Universe, shines like the disc of a singular and peerless Moon.
- (19) O Lord ! When your moon like face can destroy the darkness and illuminate the entire universe, there is no need of the Moon in the night and the Sun during the day, just as one wonders, of what use are the clouds heavy with the weight of water on the rice fields in the country after the Rice grains have ripened ?

(20) Just as the magnificence of the light of the glittering jewels cannot be procured by a piece of glass even abounding in the rays of the Sun, so also omniscience (that throws light on the various phenomena of any subject) having found accommodation in you, glows with such splendour that it is not perceptible in other gods like Hari, Har etc.

(21) O Lord ! I consider it better that I have seen Hari, Har and other gods first, because after seeing them my heart finds satisfaction in you. What good is it to look at you first ? After seeing you, there is no other god to captivate my heart on the Earth even in the future births.

(22) Hundreds of women give birth to sons hundreds of times, but no mother has given birth to a son like you. All the (eight) directions may hold the planets, but it is the East only which can produce the Sun with its cumulus of thousands of flashing rays.

(23) O the best amongst the Sages ! The saints consider you the supreme being, the Sun in

having over come the darkness of ignorance, also hold you pure purged of impurities. They overcome Death after having duly obtained you. There is no other beneficial way to Bliss, tranquility and salvation except through you.

- (24) The holy sages regard you as imperishable, majestic (the abode of sterling merits, in comprehensible, innumerable, the first and Principal founder of Religion, the supreme self-immersed soul, Almighty of the three worlds (self-accomplished). Infinite (possessor of Infinite excellencies), like a Ketu in vanquishing the Cupid (Deity of sexual passions), the chief amongst the meditators, conversant with you (the science of self absorption and cessation of corporeal activities), multifarious (with regards to substance), Knowledge personified and free from all foreign matter (the dirt of mortal sins or Karmas).

- (25) You are the Buddha as the other gods and learned persons (Ganadhar etc.) have worshipped and commended your self-Awakening, (omniscience), you are the

Shankar (Shiv) as you are the benefactor of the summum bonum (highest good) to the living being of the three worlds. O Resolute one ! You are the providence (creator) as you have constituted the ordinations of the Path of salvation (codifier of the rules of emancipation). Thus O Lord, it is manifest that you being the best amongst the persons are the only Purushottam. (Best amongst the men)

(26) O Lord ! Bow to you, the annihilator of the affections of the three worlds, how to you the purest and the most resplendent jewel on the face of Earth, bow to you the Paramount Almighty of the three worlds, O Jin (conqueror) I bow to you, the Absorbent of the ocean of Births and Deaths.

(27) O the Best amongst the sages ! It is not strange if all the virtues have taken shelter in you in densely clustered numbers and if the faults (vices) being puffed up with pride in having attained the patronage of other deities did not cast a glance at you even in a dream.

- (28) O Lord while seated under the Ashoka tree (Jonasia ashoka) your resplendent and spotless body looks extraordinarily elegant, like the Sun in close proximity of the dense clouds radiating its brilliant rays and dispelling the expanse of darkness.
- (29) Your gold-like lovely body seated on the throne emitting multicoloured rays from the lustre of gems studded therein (throne) resembles the Sun with its radiant rays shining on the high peak of the Eastern mountain.
- (30) Your gold-like glittering body intensely beautified by the waving of the clean white (like kund flowers) flappers (Chanwars whisks mode of bos grunniens Hairs), Looks elegant, like the lofty peak of sumeru mountain, with streams of water as white and clean as the rising Moon, flowing on either sides of it in great torrents.
- (31) The three-fold moon like umbrellas raised high above your head, greatly beautified by the pearl frills, and keeping off the heat of

the sun's rays, proclaim your paramount supremacy, omnipotence over the three worlds.

- (32) Filling all quarters with deep and loud sound the beat of kettle drums, skilled in announcing the grandeur of the auspicious society to the people of the three worlds, glorifying the victory of the sovereign Master of Religion, is moving in the sky proclaiming your fame.
- (33) The shower of clusters of flowers of the trees Mandar, Sunder, Nameru, Suparijat and Santanak etc., falling down gently from the sky with the auspicious mild breeze laden with drops of perfumed water, looks as if the continuous flow of Divine and excellent words is pouring out of your mouth.
- (34) O Majestic Lord ! The excessive light of your glittering Halo, surpassing the lustre of the brilliant objects of the three worlds, despite being dazzling like the raging radiance of hundreds of Suns, that overcomes the darkness of night, it is gentle and mild like the light of the Moon.

- (35) Your Divine Voice which is indispensable in seeking out the path to heaven and salvation, singularly proficient in expounding the essentials of the right Religion of the three worlds and clear with profound meanings, is endowed with the faculty of being made comprehensible to every one in his own language.
- (36) O Jinendra (the Lord of conquerors) gods create lotuses wherever you step. Your pair of feet which bear the lustre of recently blown lotuses of gold are beautified by the rays of light skipping from the nails.
- (37) O Jinendra ! The Exuberant erudition manifested by you during the course of Religious Preachings was never attained by any body else. The dazzling radiance perceptible in the Sun is capable of destroying the darkness, when radiance can never be obtained by a cluster of shining planets or stars.
- (38) The devotees who have taken shelter in you are not terrified in the least when they see

themselves attacked by the unruly and intoxicated huge elephant, (Airawat like-god Indra's elephant) whose temples are restless and drenched on account of the constant dripping of ichor, who has been provoked by the excited humming bees flying near the frontal globes.

- (39) The lion (king of the beasts) who has decorated a part of the ground with a lot of white pearls drenched in blood from the rent temples of elephants and has assumed a posture of aggression, cannot attack the man who has taken refuge at your mountain like feet, even though he has fallen into his clutches.
- (40) The furious forest conflagration like the intense fire moving ahead infuriated by the violent storms of the tempests of Destruction, tossing up sparks and blazing up in flames, spreading swiftly as if intent to reduce the Universe to cinder, is quickly quietened totally by the water of your laudation.

- (41) The man who possesses the Nagdamni (Asparagus Plant) of your name rooted in his heart, fearlessly treads over the most poisonous red eyed serpent as black as the neck of an intoxicated cuckoo, and indignant with rage ready to sting with its hood raised.
- (42) By praising you the powerful armies of the warrior kings, in a battle resounding with the noise of galloping horses and trumpeting elephants, are instantaneously vanquished like the dispersion of the thick nocturnal darkness by the rays of the rising Sun.
- (43) In the fierce battle in which the warriors are struggling to swim the streams of blood gushing out of the elephants rent up by the lancepoints, those having sought refuge in the forest of your lotus like feet, emerge victorious vanquishing even those unconquerable.
- (44) Persons seated in the ships staggering on the summits of the impetuous waves of the ocean infested with the terrible crocodiles,

alligators, whales and peeth aquadits etc. and by the dreadful submarine fire, sail to the shore fearlessly by contemplating your name.

(45) Persons, bent down under the weight of horribly swollen dropsy, having reached a precarious stage and have lost hopes of survival, are also cured and transformed into handsomeness like that of God Cupid by anointing the nectar of the pollen of your lotus like feet.

(46) Persons who are always kept cordoned by strong iron Chains right from the ankle to the neck, whose thighs have been badly bruised by the frictions of the corners of big shackles, get themselves rid of them immediately and have no fear of confinement by incessantly (day and night) reciting your name, which takes the shape of a kind of incantation.

(47) The wise man who recites this Panegyric of you has found that his fear arising out of intoxicated elephant, lion, fire, serpent,

battle, ocean, dropsy and bonds suddenly vanish away as if it (fear) were being frightened.

- (48) O Lord ! In the world the goddess of Prosperity (wealth, dignity, heavens and salvation) will be impelled to approach the person who always wears round his neck (keeps by his heart) this garland of the Eulogy composed by (Acharya) Mantung Preceptor in the elegant style of your innumerable virtues (infinite knowledge etc.) and interwoven in multifarious flowers of varied and attractive (alliterations, pun etc.) hues.

आचार्य श्री हीरा गुणगान

गुरु "हस्ती" का पट्टधर "हीरा", चमक रहा है जग में प्यारा ।
जिन शासन की शान बढ़ी है, हर्षित है जन-गण मन सारा ॥

प्रवचन जब सुनते तो श्रोता, मन्त्र मुग्ध रह जाते हैं,
खिल जाती हैं दिल की कलियाँ, शास्त्र ज्ञान जब पाते हैं,
वाणी इतनी प्यारी मानों, कानों में पीयूष उतारा ॥1॥

ज्ञान क्रिया का अद्भुत संगम, यहाँ दिखाई देता है,
जिज्ञासु जो आता कोई, निधि लूट वह लेता है,
आनन्दित होकर वह जाता, जिसने मुखड़ा शान्त निहारा ॥2॥

त्याग तपस्या देख आपकी, मन प्रमुदित हो जाता है,
आगम का यह गहन ज्ञान, गुरुवर की याद दिलाता है,
करें कहाँ तक गान गुणों का, वन्दन बारम्बार हमारा ॥3॥

महिमा मंडित जीवन जिनका, गुण सौरभ से महक रहा,
अनुपम "हीरा" दिया गुरु ने, भक्तों का मन चहक रहा,
भव्य भावना "मुनि गौतम" की, यश कान्ति का हो विस्तारा ॥4॥

गुरु "हस्ती" का पट्टधर "हीरा", चमक रहा है जग में प्यारा ।
जिन शासन की शान बढ़ी है, हर्षित है जन-गण मन सारा ॥



उपाध्यायश्री मानमुनि गुणगान

मुनिवर "मान" महान् हैं, जिनशासन की शान हैं
त्यागी और वैरागी उत्तम साधु की पहचान हैं ॥ टे.१ ॥

रत्नवंश के अनुपम मोती, उपाध्याय पद पाया हो।
नाम "मान" पर ज्ञान क्रिया का, मान तनिक नहीं आया हो ॥
जीवन विनय प्रधान है, गुण रत्नों की खान हैं ॥१॥ त्यागी....

आत्मार्थी, शान्त मूर्ति, प्रवचन सरल, रसीले हो।
चौथा आरा याद करे, जो वाणी अमृत पीले हो ॥
गहरा आगम ज्ञान है, साधक प्रज्ञावान हैं ॥२॥ त्यागी....

तप संयम का तेज झलकता, कर में रहती माला हो।
तारों में चन्दा सा देखो, है व्यक्तित्व निराला हो ॥
चेहरे पर मुस्कान है, शान्त, सौम्य, गुणवान हैं ॥३॥ त्यागी....

सन्तों की सेवा में निश-दिन, आप रहे हैं आगे हो।
शिथिलाचार प्रपंचों से, ये दूर हमेशा भागे हो ॥
कथनी करनी समान है, करता "गौतम" गान है ॥४॥ त्यागी...



सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के विविध सेवा सोपान

जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका का प्रकाशन

जैन इतिहास, आमम एवं अन्य सत्साहित्य का प्रकाशन

अखिल भारतीय श्री जैन विद्वत् परिषद का संचालन

उक्त प्रवृत्तियों में दानी एवं प्रबुद्ध चिन्तकों के
रचनात्मक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा है ।

सम्पर्क सूत्र
मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. 182 के ऊपर, बापू बाजार
जयपुर-302003 (राजस्थान)

दूरभाष : 0141-2575997, फैक्स : 0141-4068798

ई-मेल : sgpmandal@yahoo.in